जिनके आशीर्वाद से जो बना

वह उन्हीं के

श्री चरणों में सादर समर्पित

—मुनि छत्रमल

अध्येताओं से

"वीर खेंच कर ही रहता है, इतिहासों में लीक" (दिनकर)। इसिहास को गढ़ने वाले कोई वीर शूरमा ही हुआ करते हैं, भले ही वे धर्म-वीर हों या कर्मवीर। जितना सत्य यह है, उतना सत्य यह भी है कि इतिहास-निर्माताओं के पास उसे लिखने का समय नहीं हुआ करता, वे लेखक नहीं, सर्जक हुआ करते हैं, फिर भी उन वीर शूरमाओं की जीवन-गाथा पढ़ने का रसिक इतिहास के पन्ने उलटा करता है। उसका दृढ़ विश्वास होता है—"जीवन-कथाओं के अतिरिक्त और कुछ सत्य इतिहास नहीं हैं" (इमर्सन)।

इतिहास की इस विशद परम्परा में आचार्य भिक्षु की धर्म-क्रान्ति का इतिहास भी अपने आप में अनूठा और सजीव है। उस सारी धर्म-क्रान्ति को संघीय रूप में संजोने, संवारने व निखारने का श्रेय है—जयाचार्य को। प्रस्तुत उपक्रम का ध्येय उसी मर्यादा पुरुषोत्तम के कुछ जीवन-प्रसंग अंकित करने का है।

चेनिंग ने कितना सुन्दर कहा है—"यदि तुम पढ़ना जानते हो तो प्रत्येक मनुष्य स्वयं में एक पूर्ण ग्रन्थ है।" श्रीमज्जयाचार्य इसी के ज्वलन्त प्रतीक थे। यह है उन्हीं के जीवन-संस्मरणों का लघु संकलन, 'जय सौरभ' जो अध्येताओं को युग-युग तक आलोक देता रहेगा।

क्योंकि कहा गया है—उच्च पद तक टेढ़ी-मेढ़ी सीढ़ी के बगैर नहीं पहुँचा जा सकता (बेकन), इसलिये एक बार फिर दोहरा दूं—

जय जय जिन शासन धणी, जय जय जय महाराज।
जुगां जुगां रहसी ऋणी, थांरो जैन समाज॥

—मुनि छत्रमल

विषयानुक्रम

: १ :

मैं हूँ तो सौभागी

अष्टादससाठे रोयट में, आईदान घर आयो।
श्री भिक्षु कै पछै जनम लियो इम कही भाग्य सरायो ॥

वि० सं० १८६० के आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को तेरापंथ सघ के चतुर्थाचार्य श्री जयाचार्य का जन्म[१] जोधपुर के निकट "रोयट" ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम श्री आईदानजी गोलछा (ओसवाल) तथा माता का नाम श्री कल्लूजी था। वे तीन भाई थे—श्री स्वरूपचन्दजी, श्री भीमराजजी व श्री जीतमलजी। ये ही आगे चलकर श्री जयाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। लघुकाय संस्थान में वह श्यामल शरीर बहुत ही मोहक व आकर्षक प्रतीत होता था। अपने भाग्य की सराहना करते हुए स्वयं उन्होंने एक प्रसंग पर कहा था—"मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मेरा जन्म ही भिक्षु स्वामी के संघ स्थापन के बाद हुआ, ताकि मुझे उन सत्य तथ्यों की पुष्टि करने का मौका मिला। यदि मैं किसी असत्य तत्त्व को पकड़ लेता तो उसके समर्थन में मेरा बुद्धि-बल लगता, फलतः मेरी बुद्धि का उपयोग तत्त्वास्वाद के लिए न होकर विवाद के लिए हो जाता। अनेक के लाभ का हेतु न होकर, अनर्थ का ही कारण बन जाता। मेरे से वैसा न हो सका, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।"

इस महापुरुष की जन्म कुण्डली यह है।

: २ :
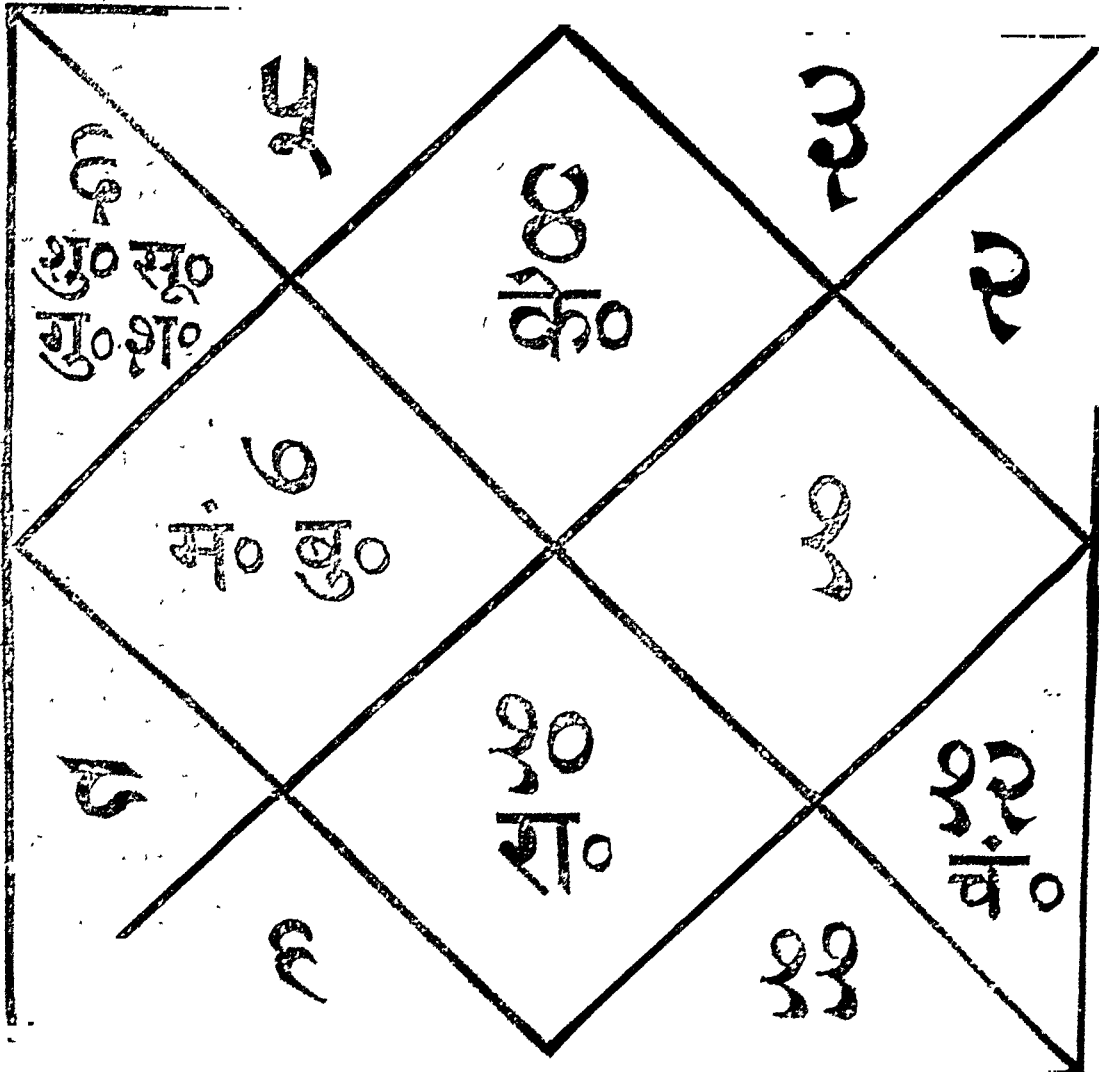
लाखों का भाग्य

मरणासन्न देख "अजबू" बरजण रा त्याग कराया।
लाखां रे भागां रा खाच्यां, शीघ्र निरुजता पाया॥

जयाचार्य बाल्यावस्था में एक बार इतने रुग्न हो गए कि मरणासन्न स्थिति हो गई। पास में बैठा सारा परिवार बिलख रहा था। संयोग से उस समय आपकी संसार पक्षीय बूआ साध्वी श्री अजबूजी वहां पधार गईं। पारिवारिक जनों की मनोदशा और माता की व्यथा को देखकर मंगल-पाठ सुनाती हुई बोली—"भविष्य में यदि यह बालक साधु बने तो तुम प्रतिज्ञा करो कि इसे नहीं रोकेंगे।" साध्वी श्री के कहने से सारे परिवार ने नियम ले लिया। उस समय तो सम्भवतः ऐसा ही लगा होगा कि "मछुए[1] के जाल खुल जाने से जब मछली निकल कर भाग जाती है, तब बेचारा धीवर यही मानकर संतोष लेता है—"चलो मुझे धर्म होगा" पर प्रतिज्ञा का बल था या लाखों व्यक्तियों का भाग्य-बल, आप उसी क्षण से स्वस्थ होने लगे और पूर्णतः नीरोग हो गए।

---

१. भिन्ने वन्धे मत्स्ये पलायिते निर्विण्णः धीवरो भणति, गच्छ धर्मो मे भविष्यति (विक्रमोर्वशीयम्)

: २ :

आकस्मिक भय

राठां कै धसकै स्यूं प्राण गया है पितृ प्रवर का।
तीन बन्धुआं में हा छोटा, नर वंका मरुधर का ॥

कहा गया है—"नर[१] वंको मरुधर देश" मारवाड़ का मनुष्य बहुत साहसी हुआ करता है, फिर भी श्री आईदानजी की मृत्यु वि० सं० १८६३ में आकस्मिक भय से हो गई। उन दिनों "मीरखां" नामक (राठ जाति के मुसलमान) एक व्यक्ति का गिरोह मारवाड़ में लूट-खसोट किया करता था। श्री आईदानजी रोयट के जागीर-दार के यहां कामदार (प्रधान) थे। उन्होंने सहसा यह समाचार सुना कि वह हमारे गांव को लूटने के लिए आ गया है, अब क्या होगा? हमारी ईज्जत कैसे बचेगी? इसी भय से उनका प्राणान्त हो गया—"मारता है मनुज को बस मानसिक संताप ही।" घर में इस विपत्ति का सामना करने के लिए केवल तीन छोटे-छोटे बालक और श्री कल्लूजी ही बच रहे।

---

१. झाड़ी वंको झावुओ, वचन वंको कुशलेश।
हाडा गायड वांकड़ा, नर वंको मरुधर देश ॥

: ४ :

संस्कारों का जादू

पूर्व जन्म का संस्कार, नर मैं संस्कार जगावै।
अब कल्पूं या नहीं कल्पूं, इम पूछै जय भल भावै ।।

जयाचार्य शिशु-अवस्था में ही एक कपड़े की झोली बना कर उसमें छोटी-छोटी कटोरियां रखकर अपने पारिवारिकों के यहां भिक्षार्थ जाते और कहते – मैं साधु वन गया हूं, मुझे भिक्षा दो। पारिवारिक इस वाल-लीला पर हंस देते। कभी-कभी साधु-साध्वियों से कहते, मुझे साधु बना लो, मैं साधु बनूंगा। सन्तों का उत्तर होता—अभी तक तुम बालक हो, तुम्हारे साधु बनने का कल्प (समय) नहीं आया। नव वर्ष से अल्प वयस्क साधु नहीं बन सकता। तबसे जब कभी साधु-साध्वी आपको मिलते, आपका सर्व प्रथम यही प्रश्न होता, अब मैं कल्पता हूँ या नहीं ? और आप नौ वर्ष की अवस्था में साधु वन ही गए। वस्तुतः यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पूर्व जन्म के शुभ संस्कार ही मनुष्य को संस्कारी बना दिया करते हैं। अन्य कारण निमित्त मात्र भले ही हों, किन्तु मूलतः पूर्व जन्म के शुभ संस्कार होते हैं जो कि सहायक सामग्री पाकर विकस्वर और दृढ़तम बन जाया करते हैं।

: ५ :

ज्योतिषी का सहज अनुमान

दिल्ली में पग रेख देखकर, छेक एक चकरायो।
ओ महराजा पांव उभाणै, इण रस्तै कुण आयो ॥

वहुधा व्यक्ति का वाह्य आकार-प्रकार भी उसकी महानता का सूचक वन जाया करता है। वि० सं० १८८६ में जयाचार्य मुनि अवस्था में दिल्ली में थे। एक दिन आप प्रातः जमुना नदी में शौचार्थ गए। नदी की रेत में आपके पद-चिन्ह अंकित थे। उर्व्व रेखा युक्त पग को देखकर एक ज्योतिषी विस्मय में पड़ गया और सोचने लगा—"क्या मेरा रेखा-विज्ञान सामुद्रिक शास्त्र झूठा है? इन शुभ चिन्हों से युक्त व्यक्ति नंगे पैर यहां क्यों आया? यह तो कोई सम्राट होना चाहिए।" विस्मय में डूवता-तैरता आगे वढ़ा तो देखा, आगे-आगे जयाचार्य जा रहे थे। शीघ्रता से उसने आगे वढ़ आपके पैर पकड़ लिए और वोला—"मैं तो सोचता था, मेरा सामुद्रिक-शास्त्र झूठा हैं। इन शुभ चिन्हों वाला व्यक्ति नंगे पैर क्यों फिरता है? किन्तु मैं तो अव समझा, आप तो सम्राटों के भी अभिवन्दनीय महापरिव्राट हैं। आप आगे चलकर एक विशाल धर्म-संघ के अधिशास्ता होंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

: ६ :

सच्चा त्यागी

द्यूं पच्चास हजार नगद, बीबी स्यूं करूं सगाई।
(पण) पुरस्योड़ी थाली ठुकरावै, है उणरी अधिकाई॥

वि० सं० १८६६ में श्री जयाचार्य दीक्षार्थी होकर जयपुर आये। आचार्य श्री भारमलजी के चरणों में साधु बनने की प्रार्थना की। पास में बैठे वहां के श्रावक लाला हरचन्दलालजी सींघड़ (श्री श्रीमाल) आपकी प्रतिभा एवं विवेक देखकर मुग्ध हो गए। अपने घर लाकर जयाचार्य से कहने लगे—तुम मुनि बनना क्यों चाहते हो? मेरी तो इच्छा है—तुम्हें बहादुरसिंहजी पटोलिया के यहां गोद दिलवा कर, मेरी छोटी लड़की की शादी तुम्हारे साथ करूं व दहेज में नकद पच्चास हजार रुपये दूं। कई बार आग्रह पूर्वक कहा, परन्तु आपके मानस को वह कंचन-कामिनी का सुखद आकर्षण खींच न सका और आप सच्चे त्यागी बन गए।[1] सच्चा त्यागी वही है, जो मिली हुई सामग्री को ठुकरा कर चले। वह त्यागी नहीं है, जो "नारी मुइ घर सम्पति न्हासी, मूंड मुंडाय भये सन्यासी"

---

१ आपकी सगाई दुन्धाड़े हुई थी।

परिणामदर्शी आचार्य

दीक्षा समये ऋषीराय नैं, भारमल्ल फरमावै।
म्हांरै तो तूं है ही अब तौ, तूं जा थांरै चावै॥

जयपुर में वि० सं० १८६९ माघ कृष्ण सप्तमी श्री जयाचार्य की दीक्षा तिथि निश्चित हुई। आप दीक्षार्थी के रूप में जलूस के साथ घाट दरवाजे के बाहर दीक्षा लेने के लिए पहुँच गए। आचार्य श्री भारमलजी से मुनि श्री रायचन्दजी ने निवेदन किया—"महाराज, दीक्षा का समय हो गया है। दीक्षार्थी भी वहां पहुँच गया होगा, अतः अब आप पधारें।" आचार्य श्री भारमलजी ने कहा—रायचन्द, अब तो तुम ही जाओ। मेरे तो तुम हो ही। अब तो तुम्हें ही [उत्तराधिकारी की] आवश्यकता होगी। मुनि श्री रायचन्दजी ने कई बार सविनय प्रार्थना की, लेकिन आचार्य श्री ने उन्हें ही भेजा। बाईस वर्षीय मुनि श्री रायचन्दजी ने वहां पहुँचकर, बालक श्री जीतमलजी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में दीक्षित किया। आचार्य श्री भारमलजी ने चालीस वर्ष पूर्व ही नव वर्ष के लघु बालक को होनहार के रूप में पहचान कर यह सिद्ध कर दिया—"सपूत पूत का तो पग पालणै पिछाणीजै।" मुनि श्री जीतमलजी उसके प्रायः चालीस-उनचालीस वर्ष बाद आचार्य श्री रायचन्दजी के उत्तराधिकारी के रूप में तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य बनें।

: ८ :

किनने विनीत ?

बावन गजा थे बावन गजा ही, रह्या हेम पोशालै।
अक्षर बिन माथो बांध्यां ही, हेम संघाते चालै॥

कहा गया—

न हंस के सीखे हैं, न रो के सीखे हैं।
जो कुछ भी सीखा है, किसी के हो के सीखे हैं॥

वस्तुतः विनेय-भाव पूर्ण समपर्ण से ही निखरा करता है। इसलिए सुविनीत शिष्य गुरु के हर इंगित (काय चेष्टा) को समझने वाला हुआ करता है। दीक्षित होने के बाद मुनि श्री जीतमल, मुनि श्री हेमराजजी की "हेम पोशाल" में रहकर अध्ययन करने लगे। वास्तव में 'हेम पोशाल' के सन्त बहुत बड़े प्रतिभा सम्पन्न, मेधावी, सुविनीत व संघ प्रभावक हुए। हेम पोशाल के मुनि श्री स्वरूपचन्दजी, मुनि श्री कर्मचन्दजी, मुनि श्री सतीदासजी

आदि अनेक सन्तों के नाम तेरापंथ के इतिहास में सदा ही अमर रहेंगे। मुनि श्री जीतमलजी का समपर्ण भाव तो हर एक के लिए प्रेरक था। यहाँ तक कि जव मुनि श्री हेमराजजी शौचार्थ वाहर जाते तो जयाचार्य सहसा अपने लेखन-कार्य को वन्द करके साथ हो लेते। कई वार ऐसा प्रसंग भी आता, अक्षर भी अधूरा लिखना छोड़कर चले जाते और उसे दूसरे दिन ही पूरा करते। तव लगता मुनि श्री का जीवन अपने विद्य-गुरु मुनि श्री हेमराजजी के प्रति वास्तव में ही—तद्दिट्ठिए तम्मुत्तिए तथा "मय्यर्पित मनोवुद्धि" जैसी सूक्तियों से ओत-प्रोत था।

: ९ :

अनूठी भावना

बारै वर्ष स्यूं आम फल्यो, बाई हद खुशी मनावै।
एक भीमड़ो लोह लाट है, कही हेम सरावै॥

कवि कालिदास ने कहा—तेजस्वी व्यक्तियों की आयु नही देखी जाती। अर्थात् वय और विवेक का गठ-बन्धन नहीं हुआ करता। एक बार की बात है, वि० सं० १८६९ में मुनि श्री जीतमलजी मुनि श्री हेमराजजी के साथ विहार करते हुए कोटा (राजस्थान) पधारे। धूप अधिक थी, विहार लम्बा था; अतः मुनि श्री हेमराजजी को बहुत प्यास लगी और मार्ग में रुकना पड़ा। मुनि श्री जीतमलजी अपने साहस को बटोर कर जल लेने के लिए कोटा शहर में गए। वहां एक बहिन मुनि श्री को अपने यहाँ ले गई और प्रासुक जल बहराया। बहिन फूले नहीं समा रही थी। अपने भाग्य की सराहना करती हुई बोली—"महाराज! बारह वर्ष हो गये, मैं प्रतिदिन सुबह से शाम तक प्रासुक जल मुनि को देने के लिए भावना

भा रही हूँ। कभी योग नहीं मिला। पर आज का दिन धन्य है, मुझे पात्र-दान का योग मिला। मेरे घर पूरे बारह वर्ष से आज आम फला है। आप ने मेरी भावना पूरी की।

इधर मुनि श्री जीतमलजी जल लेकर मुनि श्री हेमराजजी के पास आए। मुनि श्री जल पीकर बाल मुनि श्री जीतमलजी के साहस और कर्मशीलता की सराहना करते हुए कहा--

"बूँदी का हाडा राणा तीन सौ साठ,
एकलो भीमड़ो लोह की लाट।"

वास्तव में तुमने बालक होते हुए भी आज बहुत हिम्मत का काम किया।

: १० :

गहरे संस्कार

बैरी घाव सराबै उण में, है सचमुच अधिकाई।
नाटक नहि निरखण स्यूं, सौ-वर्षां की नींव बताई॥

बचपन के संस्कारों में समूचे जीवन की रूप-रेखा छिपी रहती है। बालकों के संस्कार और आचरण ही देश, राष्ट्र व संस्था का भविष्य बतला दिया करते हैं।

वि० सं० १८७५ के आसपास श्री जयाचार्य हेमराजजी स्वामी के साथ पाली में थे। उनकी अवस्था छोटी ही थी। बाजार में जिस दुकान में ठहरे हुए थे, उसके सामने नाटक हो रहा था। नगर के बालक, वृद्ध व युवकों का जमघट लगा हुआ था। सभी की आंखे नाटक के पात्रों पर टिकी थीं। एक वृद्ध पुरुष का दिल नाटक से उचट कर कोई दूसरा ही दृश्य देख रहा था। दुकान में बैठे मुनि श्री जीतमलजी अपने लेखन-कार्य में इतने संलग्न और तल्लीन हो रहे थे कि डेढ़ दो घंटे की लम्बी अवधि में सामने होने वाले नाटक

की ओर पलक उठाकर भी नहीं झांका। वह वृद्ध पुरुष बार-बार बालक मुनि की इस स्थितप्रज्ञता को आश्चर्य भरी दृष्टि से देख रहा था।

नाटक सम्पन्न हुआ, भीड़ बिखरने लगी वृद्ध पुरुष लोगों के समक्ष श्रद्धा विभोर होकर बोल उठा—"तेरापंथ की नींव सौ वर्ष की तो पक्की हो गई।"

जनता ने साश्चर्य पूछा—यह कैसे ?

इस संघ के एक छोटे से बालक में भी इतने गहरे संस्कार हैं कि वह अपने कार्य से क्षण भर भी इधर-उधर नहीं झांकता। कितना सुस्थिर है, इसका मन ! कितनी दृढ़ है इसकी लगन !! जिस समाज में ऐसे होनहार बालक हैं, उसका सौ-वर्ष तक तो कुछ भी नहीं बिगड़ सकेगा !!!

वृद्ध की मार्मिक अनुभूति में बालक के जीवन एवं भावी समाज के उत्थान की भविष्य वाणी बोल रही थी।

: ११ :

नर को उपकारक नारी

रंग्योड़ी इक देख पातरी, दीपां मार्यो तानो।
उण ताने स्यूं प्रेरित होकर, भर दियो ज्ञान खजानो ॥

मनुष्य का दिमाग एक बंजर खेत की तरह है। जब तक उसमें बाहर से खाद न डाली जाएगी, तब तक उसमें अच्छी उपज नहीं होगी। क्योंकि मानव अक्षय शक्तियों का भण्डार है किन्तु उन प्रसुप्त शक्तियों को जगाने में प्रेरणा रूपी खाद की आवश्यकता होती है। कभी-कभी समय पर कही हुई छोटी-सी बात भी जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन कर दिया करती है। एक बार बाल मुनि जीतमलजी ने एक छोटे पात्र पर वारनिश किया। पात्री के रंग अच्छा खिला था, अतः मुनि श्री को हर्ष होना सहज था। जब आचार्य प्रवर के दर्शन किये, वह पात्री साध्वी श्री दीपांजी को दिखाई। श्री दीपांजी एक फक्कड़, हिम्मत वाली और खरी-खरी

कहने वाली साध्वी थी। मुनि श्री को एक बोध देते हुये बोली—यह क्या? हम औरतों के करने के काम आपने प्रारम्भ कर दिये? यह "हाण्डी कुण्डों" का काम तो हम ही कर लेंगी। आप मूंछाले मर्द हैं, कोई सूत्रों की जोड़-पद्यमय टीका करते! सब के पढ़ने की सामग्री बनती। यह अच्छा धन्धा आरम्भ किया!! समय की बात थी। महासती के छोड़े हुए तीर ने मुनि श्री को प्रबुद्ध कर दिया और सारे जीवन के क्रम को बदल दिया।

साध्वी श्री की यह प्रेरक वाणी, जहां हरिभद्र और महासती याकिनी की याद ताजा करती है, वहां मुझे एक पद याद दिलाती हैं—"एक नहीं दो दो मात्रायें, नर से भारी नारी" अर्थात् नारी नर जाति की सदा से पथदर्शिका और उपकारक रही है।

: १२ :

कवि जन्मता है

इग्यारह वर्षां को मुनि, के समझै कविता रै मांहि।
रची संत-गुणमाला तिण वय, आ थांरी अधिकाई ॥

एक विचारक ने कहा—कवि बनता नही, जन्मता है। अर्थात् काव्य-कला प्रयत्न-जन्य और प्रतिभा-जन्य होने पर भी उसका विशद रूप तो किसी बिरल विभूति में ही मिला करता है। इग्यारह वर्ष का बालक कविता-रचने में क्या समझ पाता है; वहां मुनि श्री जीतमलजी ने इग्यारह वर्ष की अल्पतम वय में ही "सन्त-गुणमाला" नामक एक कृति तैयार की। उसकी भाषा गुजराती गर्भित राजस्थानी है और वह बहुत सरस व सुन्दर बन पाई है। उसमें संघ के तत्कालीन साधुओं के गुणानुवादमय पद्य हैं।

: १३ :

प्रतिभा का चमत्कार

अष्टादश वर्षां पन्नवणा, पूरी पढ़ी न जावै।
जय इण वय में पन्नवणा की सुन्दर जोड़ वणावै ॥

प्रज्ञापना सूत्र बहुत ही गंभीरतम जैनागम है। उसमें द्रव्यानुयोग का विशद और विस्तृत विवेचन है, अतः साधारण मेधावाले व्यक्ति के लिये इतना सुबोध व रुचिकर नहीं है। असाधारण प्रतिभा सम्पन्न मुनि भी एक दो वार के पारायण से उसे आत्मसात् कर सके, ऐसा भी नहीं है। मुनि श्री जीतमलजी वहुत ही विलक्षण प्रतिभाशाली थे। साध्वी श्री दीपांजी से प्रेरणा पाकर जैन सूत्रों की ओर जब आप मुड़े तो सतरह वर्ष की अवस्था में सर्व प्रथम छेद सूत्र निशीथ की जोड़ की और अठारह वर्ष की अल्पतम वय में वि० सं० १८७८ में पन्नवणा सूत्र की जोड़ बनाई। उसका स्वाध्याय करने वाले मुनि आज भी जयाचार्य की प्रतिभा को साधुवाद दिये विना नहीं रह सकते।

: १४ :

प्रखर प्रतिभा के धनी

सूत्र भगवती सीखणरी जद, गुरु स्यूं आज्ञा चावै।
थांरै तो सीख्योड़ी ही है, गणनायक फरमावै॥

कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनकी बुद्धि बहुत प्रखर होती है। जिस चीज को एक बार देख लिया, सुन लिया, वह निरन्तर ध्यान में रहती है। ऐसे व्यक्तियों को आगम की भाषा में कोष्ठ-बुद्धि कहा है। जयाचार्य की प्रतिभा भी बहुत स्थिर थी। एक बार आपने आचार्य श्री रायचन्दजी से प्रार्थना की—मैं भगवती सूत्र को कण्ठस्थ करना चाहता हूँ। आचार्य श्री ने फरमाया—तेरे तो सीखा हुआ ही है, फिर क्या सीखेगा ?

: १५ :

अद्वितीय ग्रन्थ रत्न

पांच वर्ष में जोड़ भगवई, लिखीजणी पण दोरी।
पांच वर्ष में भगवई केरी, जोड़ अजोड़ी जोड़ी॥

जैनागम भगवती उपलब्ध जैनागमों में सबसे विशाल एवं ज्ञान का अगाध समुद्र है। उसमें महामहिम गोतम स्वामी के छत्तीस हजार प्रश्नों-प्रति-प्रश्नों का सुन्दर समाधान है, जिसकी पद संख्या प्रायः सोलह हजार है। यदि कोई कुशल लेखक अतित्वरा से प्रतिलिपि करना चाहे तो भी संभवतः भगवती और उसकी जोड़ की प्रतिलिपि पांच वर्ष के समय में कर देना सम्भव नहीं लगता। फिर भी आपकी यह असाधारण विशेषता रही। आपने उस भगवती सूत्र की पद्य-मय टीका, जो कि आज के विचारकों के अभिमत से राजस्थानी भाषा का अद्वितीय ग्रन्थ-रत्न है, मात्र पाँच वर्ष के अल्पतम समय में बनाई।

[1]प्रारंभकाल वि० सं० १९१९ आसोज कृष्ण ९ पुष्प नक्षत्र सुजानगढ़ है और पूर्तिकाल वि० सं० १९२४ पौष शुक्ला १० रविवार

चीदासर है। पद-संख्या सत्तर-अस्सी हजार के लगभग है। विभिन्न राग-रागिनियों में पांच सो गीतिकाएं हैं। संभवतः ऐसा कोई भी विषय नहीं होगा, जिसे जयाचार्य ने वहां अछूता छोड़ दिया हो। फिर भी लघुता और पाप-भीरुता व्यक्त करते हुए समाप्ति में कहते हैं—

"विन उपयोगे विरुद्ध बच, आयो हुवे अजाण।
अहो त्रिलोकी नाथजी, तसु म्हारे नहीं ताण॥
मैं तो म्हांरी बुद्धि थी, आख्यो छै शुद्ध जाण।
श्रद्धा न्याय सिद्धान्त नां, दाख्या शुद्ध पिछाण॥
पिण छद्मस्थ पणां थकी, कहिये बारम्बार।
प्रभु सिकारै अर्थ प्रति, तेहिज छै तंत सार॥"

---

१. उगणीसैं उगणीस, विद नवमी आशु गुरु।
भगवई जोड़ जगीस, जय गणपति कीधि शुरु॥

: १६ :

बहुमुखी प्रतिभा

सारस्वत नैं रात्रि-समय सुण दोहा मांहि ढारै।
पूछ्यां कहता व्याकरणी, मघजी है पंडित म्हांरै॥

महापुरुषों का प्रतिभा-विकास चतुर्मुखी हुआ करता है। जैन आगमों का गंभीर ज्ञान तो जैन मुनि के लिए सहज ही होता है; क्योंकि उनका जीवन जैन संस्कृति में ओत-प्रोत जो है। उन ग्रन्थों पर लिखना कुछ एक व्यक्तियों को इतना आश्चर्यजनक प्रतीत न भी हो, किन्तु संस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र में उसका सिद्धहस्त होना प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार है।

वि० सं० १८८१ में मुनि श्री जीतमलजी मुनि श्री हेमराजजी के साथ जयपुर में थे। उस समय तक संस्कृत-विद्या का प्रवेश भी तेरापंथ-संघ में नहीं हो पाया था। आपकी संस्कृत पढ़ने की इच्छा हुई। जहां चाह, वहां राह भी होती है। वहां एक श्रावक था।

वह सारस्वत पढ़ता था। आपने उससे बातचीत की और कहा—तुम जो वहां पढ़ते हो, वह मुझे यहां बता दिया करो। उसने कहा—दिन में तो मुझे समय नहीं मिलता। आपने कहा—रात को तो समय मिलता होगा? उस समय ही सुना दिया करो। वह प्रतिदिन आता और दिन का पढा हुआ पाठ रात्रि को सुना देता। मुनि श्री सुने हुए उस सारे पाठ का दिन में दोहों में अनुवाद कर लेते और साधनिका भी लिख लेते। इस प्रकार व्याकरण का अध्ययन किया।

व्याकरण जैसे नीरस विषय को एक बार में ही सुनकर दोहों में अनूदित करना कितना कठिन होता है, इसे एक भुक्त-भोगी कवि-मानस ही समझ सकता है। फिर भी आप से कोई पूछता—आपने व्याकरण का अध्ययन कहां तक किया? आपका उत्तर होता—हम तो हमारा काम ऐसे ही चला लेते हैं। हमारे तो व्याकरण के पंडित मघजी हैं। तब सुननेवाले के मन मे महावीर की यह वाणी सहज उभर आती—"नमइ मेहावी" बुद्धिमान् नम्र होता है।

: १७ :

कविता कैसे करते ?

पहलो छठो इग्यारह सोलम, गाथा मुख दे देकर।
निशि में जोड़ बनाता जय, इम इचरज आवै सुणकर ॥
सार्द्ध त्रिलक्ष आसरै रुचिकर, रचना आप रचाई।
मणि कांचन संयोग देखकर मनुज रह्या हरसाई ॥

महात्मा गांधी ने एक जगह कहा है–"काम की अधिकता नहीं, अनियमितता व्यक्ति को मार डालती हैं।" अर्थात् सुन्दर और सुव्यवस्थित तरीके से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। मुनि श्री जीतमलजी ने अपने जीवन में विविध विषयों पर प्रायः साढ़े तीन लाख श्लोकों की रचना की। एक व्यक्ति अपने जीवन में इतनी विशाल ग्रन्थ-राशि का निर्माण कर दे, वह भी कृत्रिम प्रकाश का उपयोग न करने वाला जैन मुनि, यह प्रत्येक के लिए आश्चर्य, विस्मय और जिज्ञासाभरा प्रश्न है। पर आप का काव्य करने का तरीका भी अपने आप में अनूठा था। रात के समय पांच साधुओं को आसपास बैठा लेते और पच्चीस पदों

की एक गीतिका बना लेते। एक साधु को पहली, दूसरे को छट्ठी, तीसरे को इग्यारमी, चौथे को सोलहवीं एवं पांचवें को इक्कीसवीं गाथा पहली बार देते। दूसरी बार में दूसरा, सातवां, बारहवां, सतरहवां और बावीसवां पद देते। यों पांच बार में पच्चीस गाथाओं की एक गीतिका सहसा तैयार हो जाती। पांच बार में पांच पद्यों को याद कर लेना इतना कठिन भी नहीं होता और रात्रि कालीन समय का सदुपयोग भी हो जाता।

यों आपने अपने जीवन में प्रायः साढ़े तीन लाख श्लोकों की रचना की जो कि हर एक के लिये एक बहुत ही आश्चर्य कारी घटना है, उन सारी ग्रन्थ माला को देखकर आज भी झूमे बिना कोई दर्शक नहीं रहेगा।

: १८ :

उत्कट गुरु-भक्ति

भक्ति में साचा भक्तां नें, कष्ट न कष्ट लखावै।
पूर्ण अभिग्रह पांच विगय को तेरह मासां थावै॥

कहा गया है—भक्ति में भक्त को कष्ट की अनुभूति नहीं हुआ करती है। वात है भी सही। वि० सं० १८७५ की वात है, जयाचार्य केवल पन्द्रह वर्ष के ही थे। मुनि श्री हेमराजजी के साथ आप "पाली" चतुर्मास कर रहे थे। चतुर्मास में मुनि श्री ने एक प्रतिज्ञा की कि जव तक आचार्य प्रवर के दर्शन न होंगे, पांच विगय नहीं खाऊँगा। चतुर्मास समाप्त हुआ। पाली से विहार कर हेमराजजी स्वामी देवगढ़ पधारे। एक दिन मुनि श्री हेमराजजी शौचार्थ पधारे थे। वहां एक गौ ने आपके पैर में चोट लगादी। उस चोट से पैर का गट्टा (ढ़कनी) उतर गया। संत जन आपको वहां से उठाकर स्थान पर ले आये। मुनि श्री स्वरूपचन्दजी ने गट्टे को चढ़ा भी दिया, पर दर्द अधिक था, अतः वह पूरा न चढ़ सका। फलतः नौ महिने तक वहां रुकना पड़ा एवं मुनि श्री जीतमलजी आचार्य प्रवर के दर्शन न कर सके। चतुर्मास के वाद जव वहां से विहार हुआ, तव आचार्य प्रवर के दर्शन हो सके और वह पांच का अभिग्रह तेरह महीनों से पूरा हुआ। तेरह महीने तक पांच विगय न खाकर भी पन्द्रह वर्षीय मुनि श्री जीतमलजी परम प्रसन्न रहकर पूर्णतः स्थित प्रज्ञ रहे।

: १९ :

गुप्त दानं महा पुण्यं

नीतिकार "पड़दै ही आछा, भोजन भजन बतावै।"
पांचां को हाको फूट्यां, काचा काचा खिरज्यावै ॥

प्रदर्शन-प्रधान इस युग में, गोपनीयता का उपदेश सम्भवतः कुछ एक को अटापटा-सा लगे, पर है सही। वि० सं १८७६ की बात है। मुनि श्री हेमराजजी देवगढ़ थे। जयाचार्य के सत्प्रयत्नों से धर्म-प्रभावना अच्छी हुई। आपके उपदेश से पांच व्यक्ति दीक्षार्थी बने। यह संवाद सारे गांव में विद्युत् की तरह फैल गया। गांव में एक तहलका-सा मच गया। धर्म-प्रेमियों के लिये जहां वह परम हर्ष का कारण था, वहां अनेक धर्म-द्वेषियों के विरोध का कारण भी बन गया। लोगों ने गांव के नायक से जाकर कहा—"इन साधुओं के यहां आने से वर्षा भी नहीं हो रही है और ये पांच बच्चों को बलात् मूंड रहे हैं; अतः इन्हें यहाँ से निकाल दिया जाना चाहिए।" जागीरदार साहब ने कहा—"सन्तों को तो मैं तुम्हारे

कहने से निकाल भी दूं, लेकिन यदि फिर वर्षा नहीं हुई तो तुम्हारा नाक कटवा दूंगा। लोग अपना-सा मुँह लेकर लौट आये।" इधर सन्तों को कहलवाया—"आप मेरी तरफ से निश्चिन्त होकर भगवान् के नाम की दो माला अधिक फेरें।"

मुनि श्री ने उनके अभिभावकों की आज्ञा लेकर तीन व्यक्तियों को मुनि-व्रत दे दिया, जो क्रमशः मुनि श्री शिवजी, मुनि श्री रतनजी एवं मुनि श्री कर्मचन्दजी के नाम से विख्यात हुये। लोगों की इस चर्चा से उकताये हुए सम्वन्धियों के कष्ट से घबराकर दो दीक्षार्थी फिसल गये। तब लगा भोजन भजन रु भोग, पड़दे ही आछा लगैं" यह उक्ति उचित ही है।

: २० :

तेरापंथ का लोकतंत्र

देख नाम दो कहै सुगुरु नैं, एकहि नाम रखावै।
बालक की भी उचित बात पर गणपति गौर करावै ॥

तेरापंथ का लोकतंत्र, एकतंत्र और जनतंत्र का विलक्षण सम्मिश्रण है। छोटे-बड़े प्रत्येक सदस्य को अपने विचार आचार्य के समक्ष विनय पूर्वक प्रकट करने का पूर्ण अधिकार है और यदि वे उचित होते हैं तो आचार्य उन्हें सहज स्वीकार कर कार्यरूप में परिणत भी करते हैं। अन्यथा आचार्य उन्हें अपना समाधान देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

वि० सं० १८७७ की बात है। आचार्य श्री भारमलजी ने अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति के लिए पत्र में दो नाम लिख दिए—"खेतसी तथा रायचन्द।" सतरह वर्षीय श्री जयाचार्य ने जब उस पत्र को देखा तो उनकी जागरूक मेधा ने उसे उचित नहीं पाया। एक खतरनाक परम्परा की आशंका से उन्होंने आचार्य चरणों में निवेदन किया—"गुरुदेव! आप जिन्हें भी योग्य समझें अपना उत्तराधिकारी निश्चित करें। नाम एक ही होना चाहिए, दो नहीं।"

आचार्यवर ने सहज मुस्कान के साथ कहा—"दोनों एक ही हैं, मामे-भानजे हैं, परस्पर में निपट लेंगे।"

'नहीं, पद के विषय में विवाद या मनुहार का प्रसंग ही नहीं आना चाहिए मेरी नम्र सम्मति में एक नाम ही ठीक है।"

आचार्य श्री को शिष्य की दूरदर्शितापूर्ण बात ठीक लगी और रायचन्दजी स्वामी का एक नाम ही रखा गया।

सतरह वर्षीय मुनि की सूझबूझ तेरापंथ-संगठन् के लिये वरदान बनकर उसे एक चमत्कारी लोकतंत्र के रूप में आज भी उजागर कर रही है।

: २१ :

ठोकर खाकर संभले

एक बार ठोकर लाग्यां, झटपट चेतो होय जावै।
अब जवानसिंह जय मुनिवर ने. लुल-लुल शीश नमावै।

एक विचारक ने कहा है—गलती न करना देवत्व है, गलती करके संभल जाना मनुजत्व है व ठोकर खाकर भी न सम्भलना निरा पशुत्व है। वुद्धिमत्ता इसी में है, मानव ठोकर खाकर के तो अवश्य संभल जाए। वि० सं० १८८२ की बात है। जयाचार्य ने अग्रगण्य रूप में प्रथम चतुर्मास उदयपुर में किया। उस समय महाराणा जवानसिंह का राज्य काल था। महाराणा जवानसिंह महाराणा भीमसिंह के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने वि० सं० १८७६ की घटना अपनी आंखों से देखी थी। वे जानते थे, महाराणा भीमसिंह ने लोगों के वहकावे में आकर आचार्य श्री भारमलजी को शहर से निकलवा दिया था। उसके दुष्परिणाम-स्वरूप नगर में हैजे का प्रकोप वढ़ गया। महाराणा के दामाद की अकस्मात् मृत्यु हो गई और राजकुमार भी बीमार हो गया। जव केशरजी भण्डारी ने सारी सही स्थिति का परिचय दिया, तव महाराणा ने 'खास रूको' भेजकर पूज्य श्री को वहां पधारने की प्रर्थना की थी। वार-वार

प्रार्थना करने पर भी आचार्य प्रवर वहां स्वयं न पधार मुनि श्री रायचन्दजी, मुनि श्री हेमराजी व मुनि श्री जीतमलजी को भेजा ।[1] इस वार जब मुनि श्री जीतमलजी वहां पधारे, तब महाराणा जवानसिंहजी मुनि श्री के प्रति काफी श्रद्धाशील हो गये थे। सायंकाल घूमने जाने का उनका रास्ता उस मकान के सामने से ही था, जहां मुनि श्री ठहरे हुए थे। जव-जब महाराणा वहां से गुजरते, मुनि श्री को बद्धांजलि प्रणाम करके आगे जाते। एक सेवक को भी आदेश दे रखा था, महाराज का स्थान आते ही उन्हें सजग कर दे। एक बार ऐसा प्रसंग भी आया। सेवक ने उन्हें सजग भी किया, किन्तु महाराणा के ध्यान में कुछ आगे जाने के बाद में आया, अतः हाथी को वापस लाकर नमस्कार करके आगे बढ़े। दर्शकों को उस समय लगा, सहज साधक वृत्ति के समक्ष ऐश्वर्य एवं सत्ता के अहं का नमन जैसे साकार हो उठा हो। मुझे एक कवि का मार्मिक कथन याद आया :

"रंग लाती है हिना, पत्थर पर घिस जाने के बाद।
खुद संभलता है इन्सान, ठोकरें खाने के बाद॥

१—विस्तृत वर्णन देखें "इतिहास के बोलते पृष्ठ" १६४-१७०

: २२ :

अद्वितीय गुरु-भक्ति

झाड़ी बंके गहन "झाबुए" चरलै गणपति सागै।
रींछ देखकर गुरु-भक्तिवश, झटपट आया आगै॥

अन्यत्र अनुगामी स्वजन होते बड़ों के सर्वदा।
पर आपदा में दीख पड़ते अग्रगामी हैं सदा॥

उपरोक्त पद में कवि ने छोटे-बड़े की कार्य-रेखा खींचते हुए कहा है—अन्य स्थानों में छोटे जहां बड़ों के पीछे-पीछे चलते हैं, वहां संकट की घड़ियों में सहसा बड़ों के आगे आ जाते हैं।

वि० सं० १८८४ में आचार्य श्री रायचन्दजी मध्य भारत की यात्रा में "झाबुआ" की ओर विहार कर रहे थे। मुनि श्री जीतमलजी भी पीछे-पीछे चल रहे थे। झाबुए की झाड़ियां[1] बहुत विकट और प्रसिद्ध हैं। संयोगवश सामने से एक रींछ आता हुआ दिखाई दिया। श्री जयाचार्य सहसा आचार्य श्री रायचन्दजी के आगे आकर खड़े हो गये। आचार्य श्री ने कहा- जीतमल!

हम चलते ही हैं। आपने कहा—नहीं। ऐसे नहीं होगा। अमूल्य रत्न के तो यत्न होने ही चाहिए। एक ओर गुरु और शिष्य में मनुहार-भरा संवाद चल रहा था दूसरी ओर वह रींछ रास्ता छोड़ कर एक ओर जंगल में चला गया। अपूर्व तपोबल से आता हुआ संकट टल गया और जयाचार्य का भक्तिवश मर मिटने की तैयारी का इतिहास युग-युग तक अमिट हो गया।

---

१. झाड़ी वंको झावुओ, वचन वंको कुशलेश।
हाडा गायड़ बांकड़ा, नर वंको मरुधर देश॥

: २३ :

लक्ष्य पर निशाना

विद्या गुरु हित च्यार और रा, जय नैं त्याग कराया।
"ब्रह्मचारीजी के धारू", यूं कहता हेम मुनि आया।

मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

प्राचीन बातें ही भली है, यह विचार अलीक है।
जैसी अवस्था हो वहां, वैसी व्यवस्था ठीक है॥

स्वस्थ परम्पराएँ जीवन को सुखमय और प्रकाशमय बनाती हैं; यह एक अकाट्य तथ्य है। परन्तु उनके आरम्भ के लिए विवेक और चिन्तन की महती आवश्यकता होती है, जो आगे चलकर भावी पीढ़ी के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम देती है।

तेरापंथ संघ में एक आचार्य का सार्व भौमिकत्व है। आचार्य का अनुशासन समान रूप से सब को मान्य होता है; भले ही कोई साधक आचार्य से दीक्षा-पर्याय में बड़ा क्यों न हो। परन्तु दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि को वन्दन-व्यवहार आचार्य भी उसे ज्येष्ठ मानकर ही करते हैं। किसी भी नई व्यवस्था का आरम्भ होता है, तब बनते-बनते उसमें कुछ समय लगता है। वि० सं० १९८४ की बात है। आचार्य श्री रायचन्दजी अपनी मध्य भारत की यात्रा समाप्त कर

"पुर" पधारे। मुनि श्री हेमराजजी उस समय वहां थे, जो आचार्य श्री से दीक्षा में बड़े थे। आचार्य और दीक्षा ज्येष्ठ मुनि के मिलन का या तो यह प्रथम प्रसंग होगा अथवा उनके पारस्परिक व्यवहार के बारे में विशद चिन्तन न चला होगा। सायं प्रतिक्रमण के समय मुनि श्री हेमराजजी ने आलोयणा अपने आप कर ली। आचार्य श्री यह चाहते थे, छोटे और बड़े सभी साधु आलोचना आचार्य के पास से ही करें। यह एक बिलकुल नई व्यवस्था थी; अतः आचार्य श्री ने मुनि श्री जीतमलजी से कहा—जीतमल! जब तक हेमराजजी स्वामी यहां आलोचना लेने न आयें, तब तक तुम्हें चारों आहार करने का त्याग है। मुनि श्री जीतमलजी वहां से उठे और हेमराज जी स्वामी के पास आकर कहने लगे—आप आलोचना करने आचार्य श्री के पास नहीं गये? मुनि श्री ने सहजता से कहा—मैंने तो यहीं कर ली। एक ही बात है। मुनि श्री जीतमलजी ने कहा—यहां क्यों? आलोचना तो सभी को आचार्य श्री से लेनी चाहिए। मुनि श्री हेमराजजी तत्काल वहां से उठे और आचार्य श्री के पास आकर बोले—"ब्रह्मचारीजी[1]! आलोयणा क्या धारूं?" उस दिन से यह व्यवस्था हो गई। आज तो इसमें कोई नवीनता जैसी प्रतीति ही नहीं होती। छोटे-बड़े सभी साधु आचार्य श्री के पास निःसंकोच भाव से आलोचना करते हैं।

---

१. आचार्य श्री रायचन्दजी को प्रारम्भ से ही ब्रह्मचारीजी के नाम से पुकारा जाता था।

: २४ :

तपस्वी बने

दिवस पंच दश हरस सरस वश, कर्‌या आछ आगारै ।
पटलावद में वरस चौरासी, खासी हिम्मत धारै ।।

"तपोधीनाहि सम्पदः"—सारी सम्पदाएं तप के अधीन हैं। सम्पदा प्राप्ति की सुनहरी आशा से तपोनुष्ठान करने वाले जहां अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं, वहाँ आत्मार्थी व्यक्ति यह मानकर चलता है, निष्काम-भाव से की हुई तपः-साधना कर्म-बन्धन मुक्त करने वाली है, वहां सकाम-भाव से की हुई तपः-साधना बन्धन-स्वरूप होती है।

मुनि श्री जीतमलजी ने वि० स० १८८४ में चोईस वर्ष की अवस्था में आछ के आगार पर पन्द्रह दिन की तपस्या की।

: २५ :

स्वधर्मी भाई

बावन जण सह मालिराम नैं, जय मुनिवर समझाया।
साधर्मी पहिचान मोखजी नें, झटपट छुड़वाया॥

श्री जयाचार्य का वि० सं० १८८५ का चतुर्मास जयपुर था। वहां बावन व्यक्तियों ने आपके पास श्रावकपन स्वीकार किया। उनमें मालीरामजी लूनियां भी एक थे, जो एक अच्छे जौहरी एवं जयाचार्य के प्रति पूर्ण श्रद्धाशील थे। कुछ वर्षों बाद वे जयपुर से आगरा चले गये और वहीं रहने लगे। वहां संतों का सम्पर्क न रहने से वे वैष्णव संस्कारों से प्रभावित हो गए। एक बार की बात है। उदयपुर के एक श्रावक मोखजी खींवेसरा उदयपुर के महाराणा की माताजी के साथ कामदार बनकर तीर्थयात्रा पर चले। जयपुर में उन्होंने जयाचार्य के दर्शन किए और निवेदन किया हरिद्वार की ओर जा रहा हूँ। रास्ते में कुछ दिन आगरा में भी रुकना पड़ेगा। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने श्री जयाचार्य से पूछा—वहां अपने कोई श्रावक तो नहीं रहते होंगे?

जयाचार्य ने कहा—सुना है, मालीरामजी लूनियां वहां रहते हैं। वे बहुत वर्ष पहले मेरे सम्पर्क में आए थे। मोखजी वहां से चले गए। संयोग ऐसा बना, तीर्थ-यात्रा कर जब वे लौट रहे थे, मार्ग में ही राजमाता का देहान्त हो गया। सब उदास थे, पर करे भी

क्या ? गुप्तचर विभाग के अध्यक्ष ने खींवेसराजी के पास जब यह सारी साज-सज्जा देखी तो उन्हें डाकू समझकर गिरफ्तार कर लिया। अपरिचित देश में जान-पहिचान वाला कौन मिले ? वहां छुड़ाये भी तो कौन ? चिन्तित से थे। उन्हें सहसा मालीरामजी की स्मृति हो आई और वे पता लगाकर उनके पास पहुँचे। वे पूजा में बैठे थे। वहां उनके चारो ओर चांदी के हजारों रुपयों के कीमती बर्तन पूजा सामग्री से भरे थे। उन्हें इससे सन्देह हुआ। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने अपने आने का कारण व अपनी समस्या प्रस्तुत की। साथ-साथ उन्होंने यह भी बताया कि जयाचार्य से उन्हें उनका कैसे पता लगा। लूनियांजी ने सहसा पूछा—ये जयाचार्य कौन है ? खींवेसराजी ने कहा—तेरापंथ संघ के चौथे आचार्य। आपका सम्पर्क उनसे वि० सं० १८८५ में जयपुर में हुआ था।

उन्होंने कहा—उनका नाम तो मुनि श्री जीतमलजी था।

वे बोले—तब वे मुनि-पद पर थे। अब जयाचार्य के नाम से आचार्य पदासीन हैं। लूनियांजी को इससे बहुत हर्ष हुआ और उन्हें अपनी छाती से भीड़ा लिया। बहुत वर्षों बाद जयाचार्य के सुखद संवाद सुनकर लूनियांजी को अनहद खुशी हुई। वे बोले—तुमने मुझे समाचार क्या दिया है, मुनिश्री का साक्षात्कार करा दिया है। तुम मेरे साधर्मी भाई हो। अन्त में वहां के बड़े अधिकारी से मिलकर खींवेसराजी को मुक्ति दिलवाई और वे सकुशल उदयपुर आये।

वस्तुतः साधर्मीपन का सम्बन्ध भी अपने आप में बहुत अनूठा और सुहावना होता है, यदि कोई उनको निभाने वाला मिल जाए।

: २६ :

समन्वय की भाषा में

बुद्धिमान झूठे झगड़े में, व्यर्थ न समय गमावे।
आगम तीन तरह का माना, सुन-सुन जन चकरावे ॥

पंडित नेहरू ने एक बार कहा—"आदमी धर्म के लिए झगड़ेगा, उसके लिए लिखेगा, उसके लिए मरेगा, पर उसके लिए जीयेगा नहीं।"

वास्तव में देखा जाये तो धर्म के नाम पर व्यक्ति को विवाद करने में जितना रस आता है, उतना उसके आस्वाद में नहीं। ऐसे बुद्धिमान मानव विरल ही होते हैं, जो अखाड़ेबाजी से परे रहकर समाधान की भाषा में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हों। जयाचार्य की प्रकृति एवं प्रवृत्ति कुछ जैसी ही थी। एक बार बहुत से जैन भाई आप के पास आए और उन्होंने प्रश्न किया—आप आगम कितने मानते हैं ? जैन समाज में यह एक बहुत विवाद का प्रश्न है। कोई बत्तीस आगम मानता है तो कोई पैंतालीस, कोई चौरासी तो कोई पंचागी[1] सहित चौरासी।

जयाचार्य की स्मृति से वादों का वह पुलिन्दा परे नहीं था, अतः समाधन के लिये आगम की भाषा में बोले—आगम तीन प्रकार के हैं[1]—१ सूत्रागम, २. अर्थागम और ३. तदुभयागम। १. मूलपाठ, २. पाठानुसारी अर्थ (भले ही टीका, टव्वा भाष्य या चूर्णि आदि कुछ भी क्यों न हो) ३ दोनों का युगपत् स्वरूप। उत्तर सुनकर प्रश्न कर्त्ता झुंझलाये। उनकी सारी तर्कें मन में ही रह गईं। बत्तीस और चौरासी का सारा झगड़ा ही समाप्त हो गया एक ने व्यंग कसते हुए कहा—तब तो आपको आगम चार मानने चाहिए—तीन तो वे और एक मिलते आगम। उसके व्यंग पर हंसते हुए आपने कहा—एक अन मिलते आगम—नहीं मिलने वाले आगम? सभी मौन होकर बगलें झांकने लगे।

---

१ टीका, टव्वा निर्युक्ति चूर्णि और भाष्य; आगम के ये पांच अंग माने गये हैं। (पंचागी)

: २७ :

हाजिर जवाबी

आचारज हाजिर जवाबी, सचमुच होणो चावे।
भंगी को कलदार खरो, मिथ्यात्वी क्रिया वतावै॥

यों कहा जाता तो ठीक रहता तथा यों होता तो ठीक रहता; पुनः-पुनः इस प्रकार सोचने वाला मूर्ख से अधिक कुछ नहीं होता। तब ही तो कहा है –

"युक्ति ठीक है वही, समय जिसको उपयुक्त वतावे[1]"। पंडित वह है, जो गंभीर तत्व को भी अति सरलता से समझा दे और गंभीर और कटु वात का प्रत्युत्तर समय पर उचित दे दे।

जयाचार्य का वि० सं० १८८६ का चतुर्मास दिल्ली में था। वहां कुछ नये व्यक्ति आपके सम्पर्क में आए तथा कुछ पूर्व परिचित व्यक्ति भी मिले। एक दिन एक प्रसंग पर मिथ्यात्वी की क्रिया का प्रकरण चल पड़ा। आपने भगवती सूत्र के आधार से यह वताया – कोई भी क्यों न हो, अनवद्य क्रिया सभी की उपादेय है और वह

१—दिनकर

: २८ :

चरैवेति चरैवेति

एक वर्ष में कोश सात सौ, विचर्या उग्र विहारी ।
दिल्ली उदयपुर सोरठ कच्छ हो मरूस्थली नें तारी ॥

"विहार चर्या इसिणं पसत्था" साधु का घुमक्कड़पन ही अच्छा; इस के उद्‌घोषक मुनिजन अपनी पदयात्रा में छुट-पुट कायिक-कष्टों से कायल नहीं होते। सहनशीलता के वे हिमाचल, मान-सन्मान, शीत-ताप, लाभ-अलाभ, भूख-तृषा की प्रतिकूल घड़ियों को नगण्य गिनते हुए गांव-गांव में घूमते हुए अलख जगाते ही रहते हैं। उनका ध्रुव लक्ष्य होता है, अरति से परे रहनेवाला मेधावी साधक क्षण भर में वन्धन-मुक्त होता है; अतः उनका स्पष्ट घोष है—"वहता पानी निरमला"।

उग्रविहारी पर्यटक मुनियों में जयाचार्य का नाम प्रथम लिया जा सकता है। एक बार उन्होंने आठ महिने के अल्प समय में सात सौ कोस (प्रायः चौदह सौ मील) का विहार किया। उस विहार काल में जहाँ अनेकों व्यक्ति सम्पर्क में आये, वहां अनेकों ने आपके द्वारा भिक्षु-दर्शन का नया दिग्दर्शन पाया।

वि० सं० १८८९ को दिल्ली में चातुर्मास सम्पन्न कर विहार किया

एवं जयपुर होते हुए उदयपुर के पास गोगुन्दे में आचार्य श्री रायचन्द जी के दर्शन किये। आचार्य प्रवर कच्छ, गुजरात की यात्रा पर जा रहे थे, अतः आप भी साथ जाने के लिये तैयार हो गए। अपने विद्या-गुरु श्री हेमराजजी स्वामी के दर्शनार्थ वहां से सिरियारी (जोधपुर) आये। सिरियारी से पुनःविहार कर गोगुन्दा होते हुए अहमदाबाद पहुँचे। वहां से वीरमगांव होते हुए सौराष्ट्र की सुहावनी भूमि का स्पर्श किया। सौराष्ट्र में लिंवड़ी, बढ़वाण, मौखी होते हुए कच्छ प्रदेश तथा बाव (गुजरात) होकर आचार्य श्री ने अपना चतुर्मास पाली मारवाड़ में विताना निश्चित किया। मुनि श्री जीतमलजी को वि० सं० १८६० के चतुर्मास प्रवास के लिये वालोतरा भेजा। वह आपके जीवन की एक बहुत लम्बी एवं ऐतिहासिक यात्रा थी जो सबको "चरैवेति-चरैवेति" बढ़े चलो, बढ़े चलो का पाठ पढ़ती हैं।

: २९ :

अति सर्वत्र वर्जयेत्

धक्कै धक्कै कही आपने, सारै शहर फिराया।
भेद खुल्यो जद पगां पड्या है, बारंबार खमाया॥

वि० सं० १८८९ में जयाचार्य सात सौ कोस की लम्बी यात्रा कर वालोतरा पधारते हुए जसोल पधारे। जसोल उस समय तेरापंथ का इकरंगा क्षेत्र था। साधुओं के प्रति उनकी निष्ठा अनुकरणीय व प्रशंसनीय थी। जयाचार्य विहार कर बाजार में पधारे और ठहरने के लिए स्थान की याचना की। लोगों ने उन्हें नहीं पहचाना। स्थान न वतलाकर वे वोले—'धक्कै' (आगे)। फिर आगे आकर पूछा तो वही उत्तर था—आगे। यों धक्कै-धक्कै कहते-कहते आप को आगे से आगे भेजते रहे। गांव का दूसरा किनारा आगया। जयाचार्य ने सोचा—वात क्या है ? जसोल के श्रावकों की भक्ति से सम्बन्धित संस्मरण तो बहुत सुन रखे थे। यहां साधुओं को ठहरने के लिए स्थान बतलाने वाला भी कोई नहीं है। यहां तो कोई

पूछनेवाला भी नहीं कि आप कौन हैं ? कहां से आये हैं ? बात क्या है, पुनः बाजार के बीच आकर कुछ क्षण इसी चिन्तन में रुके। आस पास की दुकानों से उठकर कुछ भाई आये और उन्होंने आपका नाम पूछा। आपने उत्तर दिया-"जीतमल"। नाम सुनते ही सब के सिर शर्म से झुक गये। चरण पकड़ कर अपनी भूल पर पछतावा करते बोले—"गुरुदेव! माफ करें, हमने आपको पहिचाना नहीं। यहां स्थान की कोई कमी नहीं है। आप क्षमा-सागर हैं। हमारी भूल को भूलें।"

आपने आश्वासन देते हुए कहा—"भूल जैसी तो कोई बात नहीं हैं, पर कम से कम पूछना तो चाहिए ही था कि आप कौन हैं। इतनी लापरवाही तो नहीं होनी चाहिए।

: ३० :

अजोड़ सेवा

कोदरजी अरजी कर साग्रह, छट्ठ-छट्ठ तप धारी।
छः संतां की अशन-पान की सारी सेवा सारी॥

संघ की प्रभावना में जहां वड़े-वड़े तार्किक, दार्शनिक सन्तों की अपेक्षा हुआ करती है, वहां तपस्वी व सेवार्थी मुनियों का सेवा कार्य भी कम प्रशंसनीय हो, एसी वात नहीं है। तेरापंथ संघ का यह अहोभाग्य है कि उसकी श्री वृद्धि में वहुत से महारथियों का वहुत ही स्तुत्य योगदान रहा है। इस शृंखला में मध्ययुग केकोदरजी तपस्वी का नाम वड़े ही गौरव से लिया जा सकता है। श्री कोदरजी तपस्वी मालवा प्रान्त के थे। वि० सं० १८८१ में कंटालिया (मारवाड़) में दीक्षित हुए। आप वड़े साहसी, तपस्वी, सेवार्थी और विवेकी सन्त थे। जव कभी समय-असमय, कठिन से भी कठिन कार्य में आपको नियोजित कर दिया जाता, आप उसमें सहर्ष जुट जाते। एक वार आचार्य श्री रायचन्दजी को जयपुर से चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र की

एक प्रति मंगवानी थी। मुनि श्री कोदरजी ने बड़े उल्लास के साथ उस कठिनतम कार्य को सम्पन्न किया। एक बार मुनि श्री जीतमलजी को आचार्य श्री के पास, एक विशेष आज्ञा प्राप्त करने के लिए किसी साधु को भेजना था। इस समय भी कोदरजी तपस्वी को ही भेजा गया। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, मुनि श्री कोदरजी एक निर्जरार्थी, सेवा-भावी एवं कर्मठ साधु थे।

वि० सं० १८९३ में श्री जयाचार्य ने छः सन्तों से बीकानेर चतुर्मास किया। आप भी उनके साथ थे। बेले-बेले (दो दिन) का तप करते थे। साथ ही उनके अभिग्रह की विशेष बात थी। उन्होंने एक प्रतिज्ञा की, छः सन्तों के लिए आहार-पानी में ही लाऊंगा। यदि कोई अन्य साधु गौचरी चला जाए तो पारणे में मैं कोई विगय[1] नहीं लूंगा। चार ही महीने आहार-पानी की गौचरी आपने की। शहरों में जहां दूर-दूर के घर हों, वहां यह काय कितना कठिनतम होता है, इसका सहज अनुमान कोई भुक्तभोगी ही लगा सकता है। तपस्वीजी ने यह सेवा सहर्ष और निर्जरार्थी बनकर की, जो सदा के लिए अविस्मरणीय रहेगी।

---

१. दूध, दही, घी, मिठाई, तैल, शक्कर आदि।

: ३१ :

साथ खूब निभाया

और बात को सागो निभज्या, मरणै को के सागो।
सेर आर कर कोदर करदियो, अणसण घर अनुरागो॥

गुजराती में कहावत है—जान मा जानार तो बहु मले, पर जान आपनार विरलोज मले, अपने साथी की बरात में जाने वाले तो बहुत मिलते हैं, पर इसके पीछे जान-प्राण देने वाले विरले ही होते हैं। वास्तव में यह एक बहुत ही कठोरतम कार्य है। ऐसा तो एक मनोयोगी ही कर सकता है, क्योंकि वह (मनोयोगी) मन और शरीर का स्वामी होता है। जीवन के दोनों छोर पर उसका साम्राज्य होता है। वह हंसता-हंसता जीता है और हंसता-हंसता ही मरता है। जीवन की तरह मृत्यु भी इसकी इच्छा पर निर्भर रहती है। यह उसकी तपस्या का चमत्कार होता है।

वि० सं० १८६६ में श्री जयाचार्य का चतुर्मास चूरू हुआ। तपस्वी मुनि श्री रामसुखजी ने वहां ४५ दिन की तपस्या की।

आषाढ़ सुदी ३ को इनका पारणा हुआ और अष्टमी को सहसा स्वर्गवास हो गया। तेरापंथ-शासन के प्रसिद्ध उग्र तपस्वी मुनि श्री कोदरजी ने जब यह देखा कि मेरा साथी मेरे देखते-देखते इस प्रकार चला गया है तो बोले—रामसुखजी चले गये हैं तो उन्हीं की जगह मेरा संथारा (बिछौना) लगाओ।

साधुओं को तपस्वी की बातों पर आश्चर्य हो रहा था, परन्तु उन्होंने वही कर दिखाया जो चमत्कारी सत्य था। बाजरे के पांच सोगरे (मोटी रोटियां) करीब एक सेर आहार कर अत्यन्त आग्रह और वीरतापूर्वक इन्होंने जयाचार्य के समक्ष अनशन स्वीकार किया। सात दिन तक समाधि पूर्वक अनशन लेने के बाद आठवें दिन श्रावण बदी १ को इन्होंने इस भौतिक शरीर का त्याग कर वास्तव में ही इच्छा-मृत्यु का एक अनूठा उदाहरण रखते हुए 'मृत्यु का भी साथ' करने की लोकोक्ति चरितार्थ कर दिखाई।

: ३२ :

जो जिसके मन में बसे

है यदि गुण तो गुण-ग्राहक भी, देखो मिल ही जावै।
दूर स्थित पिण श्री जय मुनिवर, युवाचार्य पद पावै॥

धर्म-संघ में सारी गतिविधियों के सूत्रधार आचार्य होते हैं। आचार्य की नियुक्ति की तेरापंथ-संघ में एक वहुत ही वुद्धिगम्य एवं प्रशस्त परम्परा रही है। कई धर्म-संघों में जहां दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि को आचार्य पद देकर वहुत-सी उलझनों को भले ही सुलझा लिया गया हो, पर वैसी योग्यता के अभाव में उसे एक स्वस्थ परम्परा नहीं कहा जा सकता। तेरापंथ-संघ में आचार्य के उत्तराधिकारी की नियुक्ति एक मात्र आचार्य के हाथ में ही है। वे जिसे भी योग्य समझें, उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर सकते हैं। पास हो या दूर, वाल हो या वृद्ध, शिष्य हो या गुरु-भाई[1] आदि कोई भी विकल्प उसमें वाधक नहीं वन सकते। जयाचार्य के सम्वन्ध में भी ऐसा ही हुआ। वि० सं० १८९४ का चतुर्मास आप पाली में विता रहे थे। आचार्य श्री रायचन्दजी मेवाड़ के नाथद्वारा ग्राम में थे। वहाँ मुनि श्री जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त

१. आचार्य से दीक्षा में वड़े गुरु-भाई कहलाते हैं।

कर दिया और वह पत्र अपने पास गुप्त रूप में रख लिया। मुनि श्री उस समय ३४ वर्ष के थे। मुनि श्री को तो इस वात का पता तव लगा, जब चतुर्मास के वाद वह पत्र तथा एक और पत्र देकर आचार्य ने दो साधुओं को भेजा। वह पत्र इस प्रकार है :

ॐ नमो सिद्धम्

भिक्षु गुरु भारीमाल त्यांको शरणं ऋषि भिक्षु पाट भारीमाल ऋषि राय पाट ऋषि जीतमल जुगराज पद स्थापनम् विनेवंत ऋषि राय नी आज्ञा परमाणे चालसी जीवै जितरै। घणा हरख स्यूं स्वमत थी ए काम कीधो बीजा नो जश इण में छे नहीं।

जव सारा भेद खुला, तव हजारों व्यक्तियों के मुंह पर यह वाक्य गुनगुना रहा था "गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं, दूरेऽपि वसतां सताम्" सत्पुरुष दूर भले ही हों, पर उनके विशेष गुण दूत वनकर सर्वत्र सुगन्ध फैला दिया करते हैं।

: ३३ :

रमन्ते तत्र देवता

पूजा हुए जिहां नारी की, वहां देव को वासो।
सिरदारां में लोक-कथन ओ, मिलियो खासो खासो ॥

मनु-स्मृतिकार ने तो केवल लिखा ही है।—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता (३।५६)। जहां स्त्रियों की पूजा होती है, वहां देवता रमण करते हैं। महासती सिरदारांजी में इस बात की पूर्णतः संगति थी। उनके साथ जुड़ी हुई दैविक आख्यायिकाएँ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। यहां तक कहा जाता है, इनके स्वर्गीय पति की आत्मा ने इनको महाविदेह क्षेत्र में विचरने वाले "जययश" 'दीपयश' नाम के दो महान् आचार्यों का जीवन-वृत्त सुनाया। इसी के आधार पर जयाचार्य ने "जययश" और 'दीपयश' नामक विशाल काय दो अमर ग्रन्थ रत्न तैयार किए। प्रशस्ति में स्वयं श्री जयाचार्य ने लिखा है, जय नामक श्रेष्ठ देवता ने श्री सिरदारां को घटना-वृत्त सुनाया था, इसी के आधार पर मैंने ये ग्रन्थ तैयार किये हैं।[1]

१ सरस विवुध जय आप उमंग स्यूं, उतमंग दार सुकोड़।
अवलोकत वर कथा तणी जय गणपति कीधी जोड़ ॥
—जयजश ढ़ाल ६३।३२

वास्तव में ही महासती सिरदारां की जीवनी इतने कष्टों से भरी है कि एक बार तो अध्येता को भक्त मीरां की स्मृति ताजी हो जाती है। इनका जन्म चूरू (राजस्थान) में जेतरूपजी कोठारी के यहाँ हुआ तथा विवाह फलोदी (राजस्थान) में ढ़ढ़ो के यहां हुआ। वाल विधवा होने के बाद धार्मिक रुचि विशेष बढ़ी एवं साध्वी बनने की भावना जगी। अभिभावकों से आज्ञा-प्राप्त करने के लिये इन्हें वहुत कष्ट झेलने पड़े। यहां तक कि उन्होंने सफेद कपड़े पहन, चांदी की कटोरियां, मिट्टी व काठ के पात्र झोली में रख कर मांग-कर खाया। और भी अनेक कष्ट दिए गये, जिन्हें पढ़कर हर एक के रोंगटे खड़े हुए विना नहीं रह सकते पर महासती ने अचल व अडोल रहकर आज्ञा प्राप्त की। किन्तु आपके पिताजी के दिल में बहुत द्वेष बढ़ गया। उन्होंने सन्तों की बहुत निन्दा की। फलतः इसका कटु परिणाम भी भोगा और उस समय से यह कहावत चल पड़ी— 'सन्तों की निन्दा की तो जेतरूपजी वाली दशा होगी।'

: ३४ :

सरदार सुयश की रचना

भाग्यवती पहिचान सती नै, स्वयं लुंचिता कर दी।
गण प्रबन्ध में बणी सहायक, निवड़ी केवल फड़दी॥

वि० सं० १८९७ में जयाचार्य का चतुर्मास उदयपुर में हुआ, वहां फलोदी से आकर श्री सिरदारांजी ने मिगसर कृष्णा चतुर्थी को दीक्षा ग्रहण की। उदयपुर में साध्वियां तो थीं नहीं, अतः दो साध्वियों को गोगुन्दा से बुला लिया गया। दीक्षा हुई तब जयाचार्य ने सोचा,[1] यह बहुत ही भाग्यवती सती होगी, अतः उन्हें केश-लूंचन स्वयं करने को कहा, और वैसा ही किया गया। वे बहुत ही सौभा-

---

१. 'जीत' विचारै ए सती, काल अनागत मांहि।
जबर-भाग्य भारी दीसा, हुँता दीसै तांहि। ९।
तिण कारण निज हस्त करी, लह पोते सिर-केश।
सती भणी समझाय दी, वांरू रीत विशेप।१०।

—सिरदार सुजश-ढाल ८

ग्यवती साध्वी बनी। दीक्षा के वर्ष ही उन्हें अग्रगण्या बना दिया गया। आगे चलकर उन्हें साध्वी-प्रमुखा का पद प्रदान कर दिया गया। अनेक संघीय मर्यादाओं के निर्माण में जयाचार्य को आपका पूरा-पूरा सहयोग रहा। वि० सं० १९१४ में पुस्तक-पन्नों का जब संघीयकरण किया गया, तब साध्वी-समाज के सारे पुस्तक-पन्नें सर्व प्रथम उन्होंने जयाचार्य को सादर-समर्पित कर दिये। आज भी वि० सं० १९१४ के पहले के पन्नों पर प्रायः यह लिखा मिलता हैं, अै पाना सिरदारांजी कै नेश्राय में हुता तिका जयाचार्य ने भेंट किया; वि० सं० १९१४। आप वास्तव में अद्वितीया थीं। जयाचार्य ने आपका इतना सम्मान बढ़ाया कि आप का जीवन चरित्र-"सरदार[2] सुयश" नाम से बनाकर आप को ही सुनाया।

---

२. चवदह गीतिकाएं पहले बनाकर सुनाई तथा एक गीतिका पीछे से बनी।

: ३६ :

चोटी तो तेरे ही हाथ में है ?

लिखकर गुरु बकसीसां दी, सन्तां ने छोटी मोटी।
जीतमल्ल है सारां की ही, थारै कर में चोटी॥

वि० सं० १९०२ पौष कृष्णा ११ की बात है। आचार्य श्री रायचन्दजी मारवाड़ के "विठोड़ा" गांव में विराजमान थे। युवाचार्य श्री जीतमलजी भी आपके साथ थे। आचार्य प्रवर ने कई साधुओं को लिखित बकशीसें दी थीं। उदाहरणार्थ, किसी साधु को इतने संतों की बकशीस तथा अमुक के साथ रहने वाले साधुओं को विगय-परिहार में छूट, किसी मुनि को प्रान्त विशेष में विहार करने की छूट, आदि-आदि।

समय देखकर जयाचार्य ने आचार्य प्रवर से कहा आपने जो ये बकशीसें दी हैं, उनसे भविष्य में कहीं यह भावना तो नहीं फैलेगी कि हमें आचार्य की क्या अपेक्षा है ? हमें तो छूट मिली हुई है ही। यदि ऐसा हुआ तो व्यवस्था स्वस्थ कैसे रह सकेगी ?

आचार्य श्री ने कहा—सब की चोटी तो तुम्हारे ही हाथ है। जब-जब मैं उस संस्मरण का प्रत्यावर्तन करता हूँ, तब-तब भगवान् महावीर का वह एक वाक्य स्मृति पर उभर आता है : "कुशल न तो बद्ध है, न मुक्त।"

: ३७ :

इतिहास के आलोक में

कण्ठा ज्ञान राख केई, आगम घर सूत्र विसार्या ।
"हेम" कने स्यूं आ ही सोच, भिक्षु दृष्टान्त उतार्या ॥

इतिहास साक्षी है, जैन आगम साधुओं के कण्ठस्थ ही थे। वह ज्ञान-राशि कंठस्थ रखने की परम्परा बहुत लम्बे समय तक रही, पर उससे अलाभ यह हुआ कि बहुत से आगम लुप्त हो गए। आगे चलकर उन आगामों को लिखा गया। इतिहास के इसी आलोक का जयाचार्य ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। भिक्षु स्वामी के जीवन-संस्मरण जिनको मुनि श्री हेमराजजी ही विशेषतः जानते थे, आपने उन्हें लिखने के लिए उनके साथ नाथद्वारा में चतुर्मास किया। उन सारे संस्मरणों का संकलन "भिक्षु दृष्टान्त" के नाम से किया गया, जो संस्मरण साहित्य का राजस्थानी भाषा में एक असाधारण ग्रन्थ है। आज यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यदि उन संस्मरणों का उस समय संकलन न किया गया होता तो आज भिक्षु स्वामी के जीवन को विशद रूप से पाने में अत्यधिक कठिनाइयां होतीं।

: ३५ :

लोक भाषा में बोले

महापुरुष भी समय-समय पर, लोक कथन अपनावै ।
थे समझीज्यो गोलेछां के, गोद गोलछो जावै ॥

लोक[1]-व्यवहार को समझने वाला ही सर्वज्ञ-विशिष्ट ज्ञानी है। अन्यथा तो चतुर व्यक्ति भी निन्दित हो जाता है। लोक-व्यवहार छोटी वस्तु नहीं है। आज के इस विकासशील युग में व्यवहारिक ज्ञान का प्रशिक्षण विशेषतः दिया जाता है। हम देखते हैं, जो काम बड़े-बड़े उपदेशों से नहीं बन पाते, वे कार्य-व्यवहार की एक छोटी-सी बात से बन जाया करते हैं।

वि० सं० १६०० में जयाचार्य का चतुर्मास लाडनू था। वहां श्री तेजपालजी गोलेछा आपके उपदेशों से संसार से विरक्त बनें। परन्तु जैन मुनि दीक्षार्थी के अभिभावकों की आज्ञा बिना, उसे

---

१. लोक व्यवहारज्ञोहि सर्वज्ञोप्यन्यथातु प्राज्ञोप्यवज्ञायत एव ।

—नीतिवाक्यामृतं १७।६५

: ३६ :

चोटो तो तेरे ही हाथ में है ?

लिखकर गुरु बकसीसां दी, सन्तां ने छोटी मोटी।
जीतमल्ल है सारां की ही, थारै कर में चोटी॥

वि० सं० १९०२ पौष कृष्णा ११ की बात है। आचार्य श्री रायचन्दजी मारवाड़ के "विठोड़ा" गांव में विराजमान थे। युवाचार्य श्री जीतमलजी भी आपके साथ थे। आचार्य प्रवर ने कई साधुओं को लिखित बकशीसें दी थीं। उदाहरणार्थ, किसी साधु को इतने संतों की बकशीस तथा अमुक के साथ रहने वाले साधुओं को विगय-परिहार में छूट, किसी मुनि को प्रान्त विशेष में विहार करने की छूट, आदि-आदि।

समय देखकर जयाचार्य ने आचार्य प्रवर से कहा आपने जो ये बकशीसें दी हैं, उनसे भविष्य में कहीं यह भावना तो नहीं फैलेगी कि हमें आचार्य की क्या अपेक्षा है? हमें तो छूट मिली हुई है ही। यदि ऐसा हुआ तो व्यवस्था स्वस्थ कैसे रह सकेगी?

आचार्य श्री ने कहा—सब की चोटी तो तुम्हारे ही हाथ है। जब-जब मैं उस संस्मरण का प्रत्यावर्तन करता हूँ, तब-तब भगवान् महावीर का वह एक वाक्य स्मृति पर उभर आता है : "कुशल न तो बद्ध है, न मुक्त।"

: ३७ :

इतिहास के आलोक में

कण्ठा ज्ञान राख केई, आगम धर सूत्र विसार्या।
"हेम" कने स्यूं आ ही सोच, भिक्षु दृष्टान्त उतार्या।।

इतिहास साक्षी है, जैन आगम साधुओं के कण्ठस्थ ही थे। वह ज्ञान-राशि कंठस्थ रखने की परम्परा बहुत लम्बे समय तक रही, पर उससे अलाभ यह हुआ कि बहुत से आगम लुप्त हो गए। आगे चलकर उन आगामों को लिखा गया। इतिहास के इसी आलोक का जयाचाय ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। भिक्षु स्वामी के जीवन-संस्मरण जिनको मुनि श्री हेमराजजी ही विशेषतः जानते थे, आपने उन्हें लिखने के लिए उनके साथ नाथद्वारा में चतुर्मास किया। उन सारे संस्मरणों का संकलन "भिक्षु दृष्टान्त" के नाम से किया गया, जो संस्मरण साहित्य का राजस्थानी भाषा में एक असाधारण ग्रन्थ है। आज यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यदि उन संस्मरणों का उस समय संकलन न किया गया होता तो आज भिक्षु स्वामी के जीवन को विशद रूप से पाने में अत्यधिक कठिनाइयां होतीं।

: ३८ :

गुरु से भी नहीं चुके

कलाकार नर प्रायः विनोदी, देखण मांहे आवै।
सुगुरू तैल में गर्क रहे, इम कहता नहीं सकुचावै॥

कहा गया है—जो शरीर से श्रम करता है, वह कर्मकार (मजदूर), जो शरीर व मस्तिष्क से श्रम करता है, वह शिल्पकार, (कारीगर) एवं जो शरीर, मस्तिष्क और हृदय से श्रम करता है, वह कलाकार है अर्थात् कलाकार को शरीर, दिल और दिमाग की सारी शक्ति लगाकर चलना पड़ता है। किन्तु देखा जाता है, दिल और दिमाग के श्रम का परिहार चित्त की प्रसन्नता से हुआ करता है। इसीलिए अधिकांश महापुरुष प्रकृति के विनोदी व सरस जीवी हुआ करते हैं।

एक बार की बात है वि० सं० १९०३ में आचार्य श्री रायचन्दजी जयपुर में थे। अकस्मात् एक घोड़े की चोट लग जाने से आपका हाथ उतर गया। महीनों तक दर्द रहा। चतुर्मास के बाद भी

विहार न हो सका। सैकड़ों साधु-साध्वी वहीं दर्शनार्थ पहुँचे। आने वाले साधुओं में श्री जयाचार्य भी थे। आपके हाथ पर पट्टी बांधकर उस पर तेल सींचा जाता था। आचार्य श्री को पहले तेल की गन्ध रुचा नहीं करती थी; अतः जब भी कोई साधु तेल लगाता, आप उसे प्रायः टोका करते थे। श्री जयाचार्य ने एक दिन सस्मित कहा—कोई साधु तैल लगा लेता तो आप उसे टोका करते थे, पर आज एक दिन ऐसा आ गया कि स्वयं गुरुदेव तैल में गर्क रहते हैं।

कोइ यक तेल लगावतो, तो करता तिण स्यूं तर्क।
इक दिन इसड़ो आवियो, गुरु रहै तेल में गर्क॥

: ३९ :

विद्या-गुरु के प्रति

नव ढ़ालां स्यूं अधिक न करणी, रायऋषि फरमावै।
बिन्दु को सिन्धु कर थाप्यो, इम कहि-कहि विरुदावै॥

कहा गया है—"नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति"। सत्पुरुष अपने उपकारी को कभी नहीं भूला करते। श्री जयाचार्य के जीवन-निर्माण में मुनि श्री हेमराजजी का पूरा-पूरा योग था। उनके जीवन का हर मोड़ और विकास का क्रम मुनि श्री हेमराजजी की प्रेरणा से अनुप्राणित था। श्री जयाचार्य भी हेमराजजी स्वामी के प्रति पूर्ण समर्पण व श्रद्धेय-भावना लिए आजीवन चले। उसकी यत्किंचित् झांकी "हेम नवरसा" नामक ग्रन्थ में है। जब मुनि श्री हेमराजजी स्वर्गवासी हो गये,[1] तब मुनि श्री ने आचार्य श्री से कहा—मैं मुनि श्री हेमराजजी का जीवनचरित्र लिखना चाहता

---

१. मुनि श्री हेमराजजी के स्वर्गवास पर आचार्य श्री रायचन्दजी ने कहा—

"भिक्षु भारीमाल खेतसी चल्या जद इसड़ी करड़ी लागी नाय।
हिवड़ा करड़ी लागी घणी हो इम वोल्या ऋषिराय॥

—हेमनवरसो गी०—६

हूँ। आचार्य श्री ने कहा—नव गीतिकाओं में ही सारा लिख दो। मुनि श्री जब लिखने लगे तो आठ गीतिकाएँ हो गईं और बात बहुत अवशेष रह गई, तब नवमी गीतिका के प्रायः सवा सौ पद्य बनाकर गुरु-आज्ञा के पालन के साथ-साथ सर्वांग सुन्दर विवेचन करने में आप सफल हुए।

श्री जयाचार्य का मुनि श्री हेमराजजी के प्रति कितना समपर्ण-भाव था, यह निम्नोक्त एक पद्य से विशेष स्पष्ट हो जाता है :—

"मुनिवर रे मैं तो बिन्दु समान थोरे, तूं कर दियो सिन्धु समान।
तुम गुण हूं किम विसरूं रे, धरूं तुम्हारो ध्यान॥
हेम ऋषि भजिये रे सदा।"

—हेम नवरसा ७।२१

"मैं तो, जल-बिन्दु के समान तुच्छ था। तुमने तो मुझे सिन्धु के समान विशाल बना दिया। क्या मैं आपके गुण कभी भूल सकता हूँ?"

इससे भी अधिक समर्पणभाव एक और है—अपनी तरेपन-चौपन वर्ष की परिपक्व वय में झीणीं-चर्चा नामक ग्रन्थ की रचना करते हुए मंगलाचरण में कहते हैं :

"मुझ विद्या-गुरु हेमऋषि, कहूं तास सिरनाण"

मैं विद्या-गुरु श्री हेमराजजी स्वामी को शीश चढ़ाकर यह सारा प्रसंग कह रहा हूँ।

: ४० :

हित को कहो सब को मानो

हित की बात कहै द्वेषी तो ही तुरन्त मानणीं चावै ।
एक सन्त कै बरज्यां, सूरपन्नति बन्ध करावै ॥

जैनागमों में सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का अपने में एक विशिष्ट स्थान है। इनका पारायण भी एक गीतार्थ और असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न मुनि ही कर सकता है, प्रत्येक मुनि नहीं। ये आगम विषय की बहुत ही गंभीरिमा लिए हुए हैं। आज तक अनेक जैनाचार्यों ने अन्यान्य आगमों की टीकाएँ बनाईं, पर इनका व्याख्या-प्रतिपादक विवेचन बहुत ही कम हुआ है। संभवतः इसमें विषय की गंभीरता के साथ-साथ अन्यान्य भी कुछ कारण हों।

श्री जयाचार्य ने एक बार सूर्य प्रज्ञप्ति का टब्बा (भाषा टीका) लिखना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों इतर सम्प्रदाय के एक वयोवृद्ध

और अनुभवी सन्त से बातचीत का मौका मिला। इन्होंने पूछा—जीतमलजी! आजकल क्या कर रहे हैं? आपने कहा—सूर्यप्रज्ञप्ति का टब्बा लिख रहा हूँ। उन्होंने अपने सहज आत्मीय भाव से कहा—'और भी बहुत से कार्य हैं, इस कार्य में हाथ क्यों डालते हैं?' आपको इस में "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का निदर्शन-सा लगा और सुभाषित ग्राह्य मानकर, वहीं छोड़ दिया। वह अपूर्ण पत्र संघीय ग्रन्थागार में आज भी सुरक्षित पड़ा हुआ मानो सब को हित की कही हुई बात मानने का संकेत दे रहा है।

: ४१ :

आग्रह-हीनता

करण जैन पंचांग बडेरा, कोई हाथ न घाल्यो।
थांरै के करणो सुण छोड्यो, पिण आग्रह नहीं झाल्यो ।।

श्री जयाचार्य का साहित्यिक जीवन नये-नये उन्मेष लिए चला। विविध विषयों पर उनकी लोह लेखिनी तीव्र गति से चली। आगम, दर्शन, इतिहास, काव्य, कोष और व्याकरण जैसे गंभीरतम विषयों को उन्होंने अपनी लेखिनी से सरलतम वनाते हुए सुपाच्य व सहज वनाया, वहां ज्योतिष-शास्त्र को भी आपने अछूता नहीं छोड़ा। एक वार जैन पंचांग वनाने का कार्य प्रारम्भ किया।

जैन पंचांग के अभाव में उत्पन्न होने वाली जटिलताएँ आप से अज्ञात नहीं थीं, अतः आपने इन सारी समस्यायों का समाधान इसके निर्माण में ही देखा। आप एकाग्र होकर इस कार्य में जुटे। एक दिन वयोवृद्ध स्थानकवासी मुनि आप से मिले। वातचीत के प्रसंग में जव इन्हें ज्ञात हुआ कि आप जैन पंचांग वना रहे हैं,

सहसा इन्होंने कहा—आज तक जैन पंचांग बनाने के लिए किन्हीं पूर्वजों ने हाथ नहीं डाला। आप इस प्रपंच में क्यो पड़ते हैं ? मुझे इस कार्य में कोई लाभ नजर नहीं आ रहा है। आपने इनका वह मृदु कथन सुना। आपकी प्रकृति में तो स्वर्ण की तरह लचीलापन था, जो कि एक महामानव की प्रकृति में होना ही चाहिये। मुनिजी की कही हुई बात को स्वीकार किया और इस कार्य को वहीं अवरूद्ध कर दिया। किसी उचित परामर्श पर अपने विचार बदल देना, महामानव का विलक्षण लक्षण होता है।

लावेल ने कहा जो है—"केवल मूर्ख और मृतक, ये दो ही अपने विचारों को कभी नहीं बदलते।"

: ४२ :

हम नौकर थोड़े ही हैं

देख तपत बीदासर जन कहै, कोइयक गली निकालो।
भाखै जीत गली काढ़ण को है हाली कै ढ़ालो॥

वि० सं० १९०६ में श्री जयाचार्य का चतुर्मास बीकानेर था। इस समय कई व्यक्ति आपके सम्पर्क में आये। इनमें मदनचन्दजी राखेचा भी एक थे। वे श्रावक बने। इनकी विशेष प्रार्थना पर आचार्य श्री ने मुनि श्री जीतमलजी को वि० सं० १९०७ का चतुर्मास पुनः बीकानेर करने का आदेश दिया। कल्प के लिए दीक्षा-ज्येष्ठ श्री स्वरूपचन्दजी को वहां भेजा। श्री जयाचार्य को बीदासर में जब यह आदेश मिला तब रेगिस्तान की गर्मी बहुत उग्र थी। बीदासर से बीकानेर की दूरी भी प्रायः सवा सौ मील है। आप अत्यन्त उत्साह के साथ वहां जाने को उद्यत हुये। भयंकर गर्मी, साधु-जीवन की कठोरचर्या, रास्ते में प्रासुक जल की दुविधा आदि देखकर कई श्रावकों ने आपसे कहा—, आचार्य प्रवर की आज्ञा तो है, किन्तु इसमें कुछ गली (राह) निकाल लें और चतुर्मास यही करें'।

जयाचार्य ने कहा –'गली नौकर निकाला करता है, हम नौकर नहीं हैं। नौकर पर जैसे अनुशासन बलात् थोपा जाता है, वैसे एक साधु पर नहीं। वह तो स्वेच्छा से अपना कर्तव्य मानकर गुरु-आज्ञा का पालन करता है।

मुनि श्री का समुचित उत्तर पाकर श्रावक गद्-गद् हो उठे। आपने आषाढ़ शुक्ला २ को बीदासर से प्रस्थान कर आषाढ़ शुक्ला १० को बीकानेर पहुँच कर ही विश्राम किया। यद्यपि रास्ते में जल आदि के अभाव से कायिक कष्टों का सामना बहुत करना पड़ा, पर आपकी तो भीष्म प्रतिज्ञा थी 'शरीर जाये तो जाये पर गुरु की आज्ञा का पूर्ण पालन होना चाहिए।"

: ४३ :

प्रण कहाँ तक निभा ?

समझदार नर समय देखकर, ठीक निशाणो मारै ।
ओसवाल रै घर जीम्योड़ी, घर में आवै थारै ॥

"जातिवाद को अतात्विक" मानने वाला जैन श्रमण-वर्ग भी जातिवाद के इस चक्रव्यूह में इतना बुरी तरह फंसा है कि इसके दुष्परिणाम समय-असमय आज भी समाज को भोगने पड़ रहे हैं। वि० सं० १९०७ में श्री जयाचार्य कुचामण (राजस्थान) की ओर विहार कर रहे थे। वहां एक दिन कुछ दिगम्बर जैन भाई आये और बोले—"आप महाजनों के सिवाय भिक्षा के लिए जाते हैं, यह अनुचित है। हमारे मुनि तो सरावगी-घरों के सिवाय भिक्षा नहीं लेते"। आपको इनकी इस लचीली तर्क पर हंसी आई। समाधान की भाषा में बोले—तुम लोगों के वैवाहिक सम्बन्ध इधर किधर होते हैं ?

'लाडनू नागोर सुजानगढ़ की ओर—इन्होंने कहा।

लाडनू, सुजानगढ़ में हमने देखा है, सरावगी और ओसवाल भाईयों में पारस्परिक अच्छा सम्बन्ध है। वहां ओसवालों के घरों में खाना पकाने के लिए जाट, राजपूत, ब्राह्मण आदि कई जाति की स्त्रियां रहती हैं। वहां के सरावगी की लड़की, जिसने वहां ओस-वालों के घर में खाना खाया, यदि वह यहां आती है तो आपके मुनि उसके हाथ का बनाया हुआ खाना लेंगे या नहीं?

"वह तो लेंगे ही'—इन्होंने कहा।

श्री जयाचार्य ने स्मित भाव से कहा—'तब वह आपकी छुआ-छूत की बिमारी तो स्वयं नष्ट हो गई।'

सारे मौन थे।

: ४४ :

सुयोग्य शिष्य की उपलब्धि

वालक होवै बादशाह, नहीं दिल में ह्वै कपटाई।
बात कह्योड़ी झूठ न निवड़ै, इम सुणनै में आई॥
मघजी स्वामी करूं वन्दनां, मघजी कहै भाई जी।
थारै पातरै ठण्डो पाणी (तूँ) बैठो बैठो पी॥

वाल गोपाल होते हैं, उनकी निश्छल वृत्ति, सरल हृदय, निष्कपट भाव व सहज भद्रता हर एक सचेतक के दिल को लुभाये विना नहीं रहती। वहुत से व्यक्तियों का यहां तक दृढ विश्वास होता है कि उनके मुंह से सहसा निकलती हुई वात प्रायः गलत नहीं हुआ करती। इसी संदर्भ में श्री जयाचार्य के जीवन का भी एक प्रसंग बहुत ही रोचक है।

वि० सं० १९०८ की वात है। उस वर्ष श्री जयाचार्य अपना वर्षावास वीदासर में विता रहे थे। जिस स्थान में आप ठहरे हुए थे, उसके आसपास ही कुछ वालक खेल रहे थे। उन वालकों में एक वालक थे, जिसका नाम था—श्री मघराजजी वेगवानी। वालकों में वाल-चापल्य सहज ही हुआ करता है। वे परस्पर खेलते हुए

मघजी पर व्यंग कस रहे थे। साधुओं की नकल करते हुए वे बोले— "मघजी स्वामी ! वन्दना करता हूँ"।

तब मघजी ने कहा—"जी, भाई जी"।
तब बालक हंसते हुए कहते – "तेरे पातरे में ठण्डा पानी, तूँ तो बैठा बैठा पी"। 'तेरे पातरे में घी तूं तो बैठो-बैठो पी।"

बालकों का यह संवाद सुनकर श्री जयाचार्य ने सोचा, वे मघजी कौन से हैं; जिनके लिये साथी बालक भी इतनी सुखद कल्पना करते हैं। आप वहां से उठे और उन बच्चों को मघजी के लिए पूछा। बच्चों द्वारा बताये जाने पर श्री जयाचार्य की पैनी दृष्टि से वे छिपे न रह सके। आपने उन्हें प्रतिबोध दिया। फलतः श्री मघराजजी, उनकी माता बन्नाजी तथा लघु भगिनी श्री गुलाब-कुमारीजी, तीनों दीक्षार्थी बने। मुनिचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान कर लेने पर मार्गशीर्ष कृष्णा ५ की दीक्षा-तिथि निश्चित हुई।

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि" की परम्परा प्रायः रहा ही करती है। श्री जयाचार्य दीक्षा-प्रदान करने के लिए निश्चित स्थान पर पधार गए और दीक्षार्थी जलूस के साथ अपने घर से चल पड़े। किन्तु कुछ एक व्यक्तियों ने उनके चाचा को बहका दिया—"तुम्हारे घर का बालक मांगकर खायेगा ? छी ! छी !!" बस फिर क्या था ? चाचा ने उन्हें घोड़े से उठाया और जागीरदार के गढ़ में (मकान) ले जाकर बोला—मैं मेरे बच्चे को मांगकर नहीं खाने दूंगा।

श्री जयाचार्य वहां से विहार कर लाडनूँ पधार गये। इधर लोगों ने उसे समझाया-बुझाया। उसका दिमाग ठीक हुआ। संसार में ऐसी कौनसी शक्ति है, जो एक प्रबुद्ध मानव का पथ रोक सके। फलतः श्री मघराजजी का दीक्षा-संस्कार पंचमी को न होकर मार्गशीर्ष कृष्णा १२ को लाडनूँ में श्री जयाचार्य के कर-कमलों से हुआ। श्री मघराजजी, श्री जयाचार्य जैसे सुयोग्य सद्गुरु की उपलब्धि पर जहाँ अपने आपको सौभाग्यवान् गिन रहे थे, वहां एक सुयोग्य शिष्य की संप्राप्ति जयाचार्य को भी मानस-तुष्टि का अनुभव करा रही थी।

: ४५ :

शकुन शास्त्री आचार्य

पुण्यवान् पहचान जीत मुनि, दीक्षा तुरन्त दिराई।
रावलियां में पूज्यपाद पै, छींक तीन तब आई॥

उषा काल सूर्योदय का स्पष्ट पूर्वाभास कर देता है, पर उसके लिए आंखों में ज्योति चाहिये। इसी प्रकार भविष्य पढ़ने के लिए व्यक्ति को विवेक और आत्म-विश्वास की आवश्यकता है।

दस वर्षीय बाल मुनि श्री मघराजजी के विषय में भी कुछ ऐसा ही हुआ। जयाचार्य के कर-कमलों से लाडनूं में मघवा मुनि जब दीक्षित हुये, तब आचार्य श्री रायचन्दजी स्वामी मेवाड़ प्रदेश के रावलियां गांव में थे जो कि लाडनूं से प्रायः अढाई सौ मील की दूरी पर था। पूज्यपाद ने ज्यों ही यह संवाद सुना, इसी समय एक व्यक्ति को छींक आई। आचार्य प्रवर ने इस छींक को शकुन समझ कर सहसा कहा—"लगता है, साधु तो अच्छा होगा।"

इतने में पुनः छींक आई।

'लगता है, साधु तो विद्वान् होगा व अग्रगण्य भी हो सकता है' आचार्य श्री ने कहा।

पुनः तीसरी छींक आई।

आचार्य श्री ने कहा—बहुत संभव है, यह साधु जीतमल के पोथी-पन्ने सम्भाल ले—उत्तराधिकार प्राप्त कर ले।

उस समय आचार्य प्रवर द्वारा कही गई यह बात सम्भवतः श्रद्धा से ही शिरोधार्य की गई हो, किन्तु उसकी सत्यता पर पूरा-पूरा आश्चर्य तो तब हुआ, जब कि बारह वर्ष बाद मुनि श्री मघराजजी को तेइस वर्ष की अल्पतम वय में श्री जयाचार्य ने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और आगे चल कर वे तेरापंथ के पंचम आचार्य बने। तेरापंथ-संघ की आचार्य-परम्परा में इनका अनूठा स्थान रहा।

: ४६ :

आले में गुलाब

योगां की चंचलता मेटण, आला मांय बैठाई ।
राख लगा कई बार त्यार कियो, आब गुलाब सवाई ॥

पंचमाचार्य श्री मघवागणी की लघु भगिनी तेरापंथ-संघ में गुलाब सती के नाम से विख्यात है। उनका दीक्षा-संस्कार श्री मघवागणी के कुछ समय बाद वि० सं० १९०८ फाल्गुन कृष्णा ६ को हुआ था। माता श्री बन्नाजी भी साथ थीं। गुलाब सती की शारीरिक सम्पदा अपने आप में अनूठी थी। एक बार जोधपुर के सुप्रसिद्ध कवि व वैष्णव सन्त स्वामी गणेशपुरीजी ने आपके दर्शन किये। वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने पूज्यपाद आचार्य श्री के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा—'मेरा अनेक राज-प्रासादों में आना-जाना होता है। राजघराने की बहुत-सी सुन्दर कन्याओं को मैंने देखा है, पर इतना सुन्दर रूप मेरे देखने में आज ही आया। यह तो सचमुच देवी है।"

गुलाव सती तेरापंथ साध्वी संघ में एक असाधारण स्थान रखने वाली, परम विदुषी, स्थिर संघयणी व अचंचल योगों वाली साध्वी थीं। उनकी सुन्दरता के लिए महामहिम श्री कालू गणी कहा करते थे—"वा माटी उन खाण रत्ती रही न राजिया।" उनके सौन्दर्य को कहीं नज़र न लग जाये. इस भय से उन्हें शरीर पर राख लगा कर विहार करना पड़ता था। श्री जयाचार्य द्वारा आशु कविता के रूप में जब भगवती की जोड़ की रचना हो रही थी, तब उसे लिपि-वद्ध करने के गुरुतर कार्य को करने की क्षमता आप में पाई गयी। आपने उस कार्य का सुन्दर निर्वाह किया। इन सब विशिष्ट गुणों की समुपलब्धि की पूर्वभूमिका भी तो आप में उल्लेखनीय थी।

वात उस समय की है, जब श्री गुलाव सती अल्प वयस्का थीं। श्री जयाचार्य लाडनूं में थे। मकान के जिस कक्ष में आचार्य श्री विराजमान थे, वहां आप दो-चार वार इधर-उधर गुजरीं। आचार्य श्री ने आपको टोकते हुए कहा—नानकी! वार-वार क्यों फिर रही है, इस आले में वैठ जा। आप उसी समय उस आले में वैठ गई और कई घण्टों तक वहां वैठी रही। सायंकाल जब आचार्य श्री शौचार्थ गांव वाहर गये, तव सहसा उन्हें याद आया, उसे वैठने के लिए तो कह दिया था, उठने का कहना तो याद ही नहीं रहा। वह वहीं तो नहीं वैठी है? तत्काल वहां से साधुओं को भेजा और आप भी शीघ्र वहां पधारे। श्री गुलाव सती तो उस छोटे से आले में ही वैठी थीं।

"अभी तक यहीं बैठी है ?"; आपने कहा।

गुलाब सती ने नम्रता पूर्वक निवेदन किया—"आपका यही आदेश था"।

दर्शकगण और स्वयं आचार्य श्री भी उनकी इस विनयशीलता और आज्ञानुवर्तिता पर गद्-गद् हुए बिना नहीं रहे। पर मुझे ऐसा लगा "विनयायत्ताश्च[1] गुणाः सर्वे" समस्त गुण विनय के ही अधीन होते हैं।

---

१. प्रशम रति प्रकरण।

: ४७ :

जन्म जात महान्

तूर्य पाट गह घाट आठ की, माघ पूर्णिमा आई।
बीदाणै में जय गणिवर की, कीर्ति-ध्वजा फहराई॥

शेक्सपियर ने कहा—कुछ जन्म से महान् होते हैं, कुछ महत्ता प्राप्त करते हैं और कुछ पर महत्ता लादी जाती है। जयाचार्य पर महत्ता लादी नहीं गई थी, वे जन्म से ही महान् थे। चौतीस वर्ष की वय में आचार्य श्री रायचन्दजी ने आपको अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। तब से प्रायः आप पन्द्रह वर्ष तक तेरापंथ-संघ के युवाचार्य के रूप में रहे। वि० स० १९०८ की माघ कृष्णा १४ को आचार्य श्री का इकसठ वर्ष की वय में छोटी रावलियां (राजस्थान) में स्वर्गवास हो गया। संघ ने वि० सं० १९०८ की माघ पूर्णिमा, गुरुवार, पुष्य नक्षत्र में चतुर्थ आचार्य के रूप में आपको सहर्ष स्वीकार किया। यह आचार्य-पदारोहण महोत्सव बीदासर में हुआ था।

: ४८ :

चादर ही ओढ़ानी थी ?

आप बठे क्यूं पाट बिराज्या, सन्त ओलमो देवै।
अब ही ल्यो चादर ओढ़ाद्यो, जय गणि हंस कर कहवै ।।

जब तृतीय आचार्य श्री रायचन्दजी का स्वर्गवास हो गया, तब उनके साथ वाले सन्त तथा और भी साधु-साध्वी राजनगर के आस पास एकत्रित होने लगे। उन्हें यह आशा थी कि युवाचार्य श्री भी यहीं पधारेंगे और आचार्य-पदारोहण-महोत्सव यहीं होगा। जब इन्हें यह समाचार मिला कि श्री जयाचार्य तो वहीं बीदासर में ही आचार्य बन गये हैं तो उन्हें कुछ अटपटा लगा। गुलहजारी[1] तपस्वी जैसे

---

१. गुलहजारी तपस्वी अग्रवाल जाति के गांव नगुरा हरियाणा प्रान्त के थे; इनकी दीक्षा १८८८ मिगसर सुदी १० व स्वर्गवास १९३४ आसोज वदी १२ चूरू में हुआ। इनका तपस्वी जीवन इस प्रकार का था।

खाटा[1] बड़ी[2] आलणी[3] पापड़[4], आटा[5] आछ[6] छाछ[7], औ जल[8]।
रंधो दाल[9] रायता[10], दाल चनों[11] की ग्यारा द्रव्य सकल ॥
रोटी खिचड़ी थूली हलवा छैंही विगय के परिहारी।
इकतालीस वर्ष एकान्तर धन्य तपस्वी गुलजारी ॥
—राधेश्याम तर्ज

खरे, निर्भीक और फक्कड़ साधु जब श्री जयाचार्य से मिले तो उलाहना देते हुए कहने लगे—'आपने यह क्या किया ? हम लोग तो वहां प्रतीक्षा ही करते रहे और आप यहां 'पाट' कैसे बैठ गये ? 'पाट' तो वहां बैठना चाहिए था।' श्री जयाचार्य ने सस्मित कहा—वहां आता तो तुम लोग क्या करते ?

आचार्य-पद की चादर ओढ़ाते—सन्तों ने कहा।

अपनी गर्दन झुका कर श्री जयाचार्य ने कहा—लो, चादर अब ओढ़ा दो।

श्री जयाचार्य की इस उक्ति पर सभी गद्‌-गद्‌ हो गये और आपका अभिनन्दन करने लगे। दर्शकों को लगा, श्री जयाचार्य शेक्सपियर के इस कथन को साकार कर रहे थे, तुम्हें जो प्राप्त करना है, वह मुस्कान से प्राप्त करो।

: ४९ :

भक्त की बात

बान्धत बान्धत भक्तां नै भगवान् स्वयं बन्ध ज्यावै।
पहलो पावष कर-कर जयपुर, श्री मुख कही निभावै॥

एक भक्त ने भगवान् से कहा—"प्रभु! तुम चन्दन, मैं पानी" पानी न हो तो चन्दन की सुगन्ध कैसे फैल सकती है अर्थात् भक्त-जन न हो तो भगवान् की शान भी क्या? न जाने समय-असमय भक्तों द्वारा गाये गये कितने गीत भगवान् को दुहराने पड़े हैं। इस तथ्य से इतिहास के सहस्रों पन्ने भरे पड़े हैं। श्री जयाचार्य भी एक वार भक्तों से इसी प्रकार बन्ध गये थे। जयपुर के लालाजी जयाचार्य के प्रारंभ से ही अनन्य कृपापात्र थे। अपने मुनि-जीवन में आपने इनकी प्रार्थना पर जयपुर कई चतुर्मास किये। एक बार इनकी प्रार्थना पर आपने वचन दे दिया, आचार्य-पद का प्रथम चतुर्मास यदि संभव हो सका तो तुम्हारे यहां करूँगा।

वि० सं १९०८ में आप आचार्य वने। इस समय अपने दिये हुए वचन को निभाने के लिए अन्यान्य अनेक गांवों की प्रर्थना की उपेक्षा कर जयपुर चतुर्मास किया और एक भक्त की भावना पूरी की। भक्त की वात स्वयं भगवान् को भी रखनी ही पड़ती है।

: ५० :

दुल्हा साधु बना

ब्याह बनोरा खातां खातां, की संयम की त्यारी।
दोगुन्दक सम सतीदास की, दोरी लागी भारी॥

'दुनियां झुक सकती हैं, इसे झुकाने वाला चाहिए।' जब मुनि श्री जीतमलजी मुनि श्री हेमराजजी के साथ थे, तब की बात है। वि० सं० १८७७ का उदयपुर चतुर्मास सम्पन्न कर गोगुन्दे पधारे। आप को ज्ञात हुआ कि बाघजी कोठारी का लड़का सतीदास, जो पहले धार्मिक अध्ययन कर चुका था और दीक्षार्थी भी था, उसका वसन्त पंचमी के दिन विवाह हो रहा है। आपने साश्चर्य सतीदास से पूछा—"यह क्या?'

सतीदास ने उत्तर दिया—साधु बनने की भावना तो मेरी अब भी है, पर क्या करूँ चाचाजी के समक्ष अपनी भावना रखने में संकोच हो रहा है।

श्री जयाचार्य ने कहा—"यदि तू पक्का है तो चाचे से मैं कह दूँ।"

सतीदासजी ने कहा—'मेरे भाव तो पक्के हैं।'

श्री जयाचार्य ने चाचे से बात की। चाचाजी बड़े धार्मिक व्यक्ति थे, अतः बोले—इसकी भावना है तो मेरे क्या आपत्ति है?

बनोरे तो खा ही लिए हैं, मुहूर्त भी वसन्त पंचमी का है; विवाह का न होकर दीक्षा का ही सही। अन्त मे दुल्हा बने हुए श्री सतीदासजी इसी वसन्त पंचमी को मुनि बन गये। बने भी अपनी परम्परा के यशस्वी सन्त। इनका पठन-पाठन का सारा क्रम 'हेम पोशाल' में ही चला। जयाचार्य ने इन्हें अपना बाल-मित्र माना और सदा इन्हें विशेष कृपा-दृष्टि से देखा। जब स्वयं जयाचार्य आचार्य पद पर अवस्थित हुए तब इन्हें विशेष रूप से सम्मानित किया और दोगुन्दक[1] देव कहकर सम्बोधित किया।

वि० सं० १९०९ में मुनि श्री सतीदासजी बीदासर में थे। 'ताजीयों का घोरा' नामक स्थान विशेष के आसपास आप शौचार्थ गये। वहीं इन्हे अकस्मात् बेहोशी आगई। सन्त-जन आप को उठाकर स्थान पर लाये। उपचार भी बहुत किये पर टूटी की बूंटी नहीं हुआ करती। कुछ घण्टो की बेहोशी के बाद आपने समाधि-मरण प्राप्त किया। श्रावकों को यह बहुत ही दुःखद लगा। श्री जयाचार्य ने जब यह सारा संवाद जोबनेर (राजस्थान) में सुना, तो उनके दिल को भी बहुत आघात लगा। कुछ दिन तक उन पर गहरा असर रहा। अन्ततः इसे निरुपाय स्थिति मानकर अपने भारी मन को 'शान्ति-विलास' नाम से मुनि श्री का जीवन चरित्र बनाकर हल्का किया।

---

१. इन्द्र के सामानिक देव दोगुन्दक देव कहलाते हैं। इन पर किसी प्रकार का कर आदि नहीं लगता।

: ५१ :

सरपंच

उचित बात चाहे हो बालक की, उत्तम नहीं ठुकरावै।
बालक मुनि के कह्यां मघवा मुनि, सिरे पंच पद पावै॥

महापुरुष सहज भाव से बालक की बात का भी समादर करते हैं। उनका माप दण्ड अवस्था विशेष न होकर औचित्य और अनौचित्य का ही होता है।

श्री जयाचार्य एक कुशल अधिशास्ता और अनुशासक थे। वे अपने एक तंत्रीय धर्म-शासन में समय-समय पर लोक तंत्रीय-पंचायत राज्य के प्रयोग भी करते रहते थे। एक बार उन्होंने नई व्यवस्था की। श्री छोगजी मुनि श्री हरखचन्दजी आदि पांच साधुओं को पंच बनाया और उन्हें यह काम सौंपा गया कि यदि किसी साधु की कोई त्रुटि हो तो उसे वे यथोचित दंड दें। यह काम सुव्यवस्थित ढंग से चल रहा था। श्री जयाचार्य मध्यभारत में विहार करते हुए खाचरौद पधारे। वहां एक बाल साधु की गलती पर पंचों ने उसे दण्ड दिया। वह दण्ड बाल-साधु को अधिक लगा; अतः उसने कह दिया —"यह प्रायश्चित्त मैं स्वीकार नहीं करूंगा।" एक ओर पंचों का राजहठ था तो दूसरी ओर बाल-हठ। अन्त में सारी

स्थिति श्री जयाचार्य के पास पहुंची। बाल-साधु के कहने में संभवतः कुछ तथ्य नजर आया। आप पंचों का सम्मान भी अक्षुण्ण रखना चाहते थे; अतः बाल साधु मुनि श्री कालूजी से आपने पूछा—"तू इन पंचों की बात क्यों नहीं मानता ?"

"दण्ड अधिक है; इसलिए कैसे स्वीकार करूं ?"

"तब किसको मानेगा ?"

"यदि मघजी कह देगें तो मानूँगा।"

जयाचार्य ने समाधान देते हुए कहा—"आज से यह पांचों पंच और मघजी सरपंच" सारी समस्या ही सुलझ गई। चौदह वर्षीय मघवा मुनि सरपंच बना दिये गये।

इतिहास में सदा के लिए एक नया तथ्य उजागर हो गया कि पन्द्रह वर्ष के एक लघु बालक की बात को एक कुशल शासक द्वारा इतना बड़ा समादर दिया गया।

: ५२ :

मर्यादा पुरुषोत्तम

मर्यादा पुरुषोत्तम मर्यादावां, विविध बनाई।
संघ नगर में सुन्दर-सुन्दर, सड़का खूब जमाई॥

साधक-जीवन में यह उपेक्षा होती है कि अपना अनुशास्ता व्यक्ति स्वयं बने। किन्तु सब साधक विकसित विवेक वाले नहीं हुआ करते; अतः उनके विवेक को प्रबुद्ध करने के लिए संघीय जीवन में मर्यादाओं का आविर्भाव होता है और साधनाशील व्यक्ति उन्हें स्वेच्छा से अपनाता है। थोपी जाने वाली मर्यादा मर्यादा न रहकर कानून व राज्यसत्ता का रूप ले लिया करती है। धर्म-शासन व राज्य-शासन में यही भेद है। तेरापंथ-संघ भी एक विशाल धर्म-संघ है। आचार्य भिक्षु द्वारा की गई धर्म-क्रान्ति को जयाचार्य ने संघीय रूप में विशेषतः संवारा व निखारा। उन्होंने अपनी कुशल मनीषा, दूरदर्शिता, अद्भुत धैर्य तथा अथाह आत्म-बल से विभिन्न मर्यादाएँ बनाई और सही अर्थों में मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। रूपक की भाषा में कहा जा सकता है, इस संघ नगर में बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर सड़कें जमाई जिसमें भिक्षु स्वामी का यह संघ-नगर अपने आप में एक अनूठी आन-बान लिए जन-जन का आकर्षण-केन्द्र बना

हुआ है। भले ही तेरापंथ-संघ की अन्यान्य गतिविधियों से जनता जनार्दन के दो मत रहे हों; फिर भी इस बात में तो संभवतः सभी एक मत मिलेंगे; तेरापंथ-संघ का संगठन अनूठा, अनुकरणीय व स्पृहणीय है। यह सारा जयाचार्य की सूझबूझ का सुफल है।

पंचमाचार्य श्री मघवागणी ने अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी के लिए श्री माणक मुनि को चुना और अन्तिम सीख देते हुए कहा था—"देखो माणकलालजी ! जयाचार्य ने इतनी सड़कें बना दी हैं कि कोई आनेवाला अपने जीवन में यदि कोई विशेष मर्यादाओं का निर्माण न भी करे तो भी कोई खास आपत्ति लगे, ऐसी बात नहीं है। अब तो इतना ही काम है, ये गोवें सड़क से उतर कर कहीं अन्यत्र चलने न लग जाय। यदि कहीं कोई गौ सड़क से उतर रही हो तो ग्वाला संकेत कर पुनः सड़क पर चला ले। बस, इतना-सा यह काम मैं तुम्हें सौंपता हूँ।"

: ५३ :

असंविभागी मत बनो

कार्य भार क्रमवार अशन में, सम विभाग बरतायो।
रस की लोलुपता मेटण नें 'टहुको' आप बनायो॥

वहिरंग व्यवस्था की अपेक्षा अन्तरंग की अव्यवस्था संघीय शक्ति को प्रायः छिन्न-भिन्न अधिक कर दिया करती है, अतः संघ की अंतरंग व्यवस्था स्वस्थ रहे, श्री जयाचार्य ने इस ओर विशेष वल दिया। सर्वप्रथम सन्त-समुदाय का सामुदायिक कार्य क्रमशः किया। पहले यह व्यवस्था थी कि अमुख कार्य-विशेष को दीक्षा में छोटा-साधु ही करे। परन्तु आप को संघ की विशालता के साथ-साथ उसमें कई दिक्कतें पैदा होने की संभावना लगी। अतः दीक्षा-पर्याय-क्रम से इसकी व्यवस्था की, जो सदा के लिए स्वस्थ परम्परा चल पड़ी।

दूसरी व्यवस्था भोजन के बंटवारे की थी। भगवान् महावीर ने साधक को प्रारम्भ से ही यह शिक्षा दी कि वह भोजन साथियों को खिलाकर खाये। फिर भी भिक्षाचरी शब्द स्वयं ही एक स्त्री-वाची शब्द है। अतः वह भी संसारी प्राणियों के नारी, भूमि एवं सम्पति की तरह साधुओं के लिए भी कम क्लेशवर्द्धक हो, ऐसा नहीं लगता। इस झगड़े की झौंपड़ी को समूल नष्ट करना भी अपने आप में एक बहुत ही साहस का कार्य था क्योंकि यह प्रति-दिन का कार्य जो ठहरा। अतः जयाचार्य ने आहारपाणी में भी समविभाग की व्यवस्था दी, अर्थात् जितने व्यक्ति हो समागत आहार उतने ही समभाग करके दीक्ष-पर्याय से अपना-अपना हिस्सा ले लो। हिस्सा करने-वाले सबसे पीछे ले। हिस्सा दीक्षा-पर्याय क्रम से सारे करे तथा अपने हिस्से में मानस-तुष्टि का अनुभव करे।

संतजन रस की लोलुपता में न फंस, इसकेलिए एक निबंध बनाया, जिसको युवाचार्य श्री मघवागणी विभाग-स्थल पर बैठकर विभाग करने के समय सब को सुनाते—मघवागणी की कोयल जैसी मधुर ध्वनि के कारण उस निबन्ध का नाम भी 'टहुका' (कोयल का शब्द) पड़ गया। उसमें बताया जाता—"कोई साधु रस की लोलुपता में न फंसे।" अनन्त बार अच्छे से अच्छे सुस्वादु पदार्थ खाये, पर हुआ क्या ? गले से उतरते ही सारे पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। वस्तु की आसक्ति तृप्ति का कारण नहीं हुआ करती। तृप्ति का कारण तो विवेक की जागृति हा है। अपने हिस्से में सन्तुष्ट रहने

वालों को दुःख किस बात का ? वह तो राजा भोज है, आदि-आदि।

यद्यपि इससे पूर्व भी आहार-विभाग के कई प्रयोग किये गये। जैसे आवश्यकतानुसार पहले साधुओं को देना और बाद में साध्वियों को। बत्तीस ग्रास प्रमाण साधुओं को व अट्ठाईस ग्रास प्रमाण सतियों को देना आदि। पर सबसे उपयोगी व बुद्धिगम्य पद्धति यह सम-विभाग की रही।

: ५४ :

संघं शरणं गच्छामि

चेला म्हांरा पोथ्या थांरी, अै क्यूं भार उठावै।
और रासतो नहीं देखकर, संघ शरण में आवै।।

तेरापंथ-संघ में प्रारम्भ से ही शिष्य परम्परा अलग-अगल न होकर एकमात्र आचार्य की ही रही, किन्तु पुस्तक-पन्नों के लिए अलग समुचित व्यवस्था नहीं बन पाई थी, अतः पुस्तक-पन्नों पर साधुओं का व्यक्तिगत अधिकार माना जाता था। जयाचार्य को यह व्यवस्था बहुत पहले से ही अखर रही थी। वे चाहते थे, पुस्तक-पन्नों पर भी किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर, संघीय अधिकार रहे। एक दिन आपने मुनि श्री स्वरूपचन्दजी से सब साधुओं के सामने ही पूछा—आपके पास जो पुस्तकें हैं, वे किसकी हैं?

'वे तो हमारे अधिकार में है'—मुनि श्री स्वरूपचन्दजी ने कहा।

"जो आपके पास सन्त हैं, वे किसके है ?" जयाचार्य ने पूछा।

वे तो आपके ही हैं, मुनि श्री ने कहा।

जयाचार्य ने बात का भेद खोलते हुए कहा—तो मेरे साधु आपकी पुस्तको का भार क्यों उठावें ? मुनि श्री मौन थे।

जयाचार्य ने कहा—मेरे साधु आपका भार उठायें, यह नहीं होगा।

मुनि श्री ने कहा—'तो इतना भार हम कैसे उठा सकते हैं ?

जयाचार्य ने 'कहा—सोचो।'

मुनि श्री के समक्ष 'संघं शरणं गच्छामि' के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। उन्होंने अपने सभी पुस्तक-पन्ने जयाचार्य को सहर्ष समर्पित कर दिये। अन्य साधुओं ने भी उनका अनुकरण किया और अपने-अपने पुस्तक-पन्ने जयाचार्य को भेंट कर दिये। समागत उन पुस्तकों पर वर्तमान आचार्य के नाम की मुहर[1] लगादी गई। सूझ-बूझ के साथ थोड़े से प्रयत्न से पुस्तकों की सारी सम्पत्ति संघ की हो गई। आज तक भी वह परम्परा उसी प्रकार चल रही है।

१ भिक्षु भारीमाल आदि वर्तमान आचार्य की नेश्राय में है।

: ५५ :

एक नया प्रयोग

अलग-अलग कर सोच्या सारा, सब को जोग मिलायो।
प्रजातन्त्र और एकतन्त्र में मध्यम पथ दिखलायो॥

राज्य-शासन हो या धर्म-शासन। उसके अनुयायियों का जब तक विवेक पूर्णतः प्रबुद्ध न हो; वहां तक मर्यादा की अपेक्षा रहा करती है। परन्तु जहां एकाधिपत्य में कइयों को तानाशाही के दर्शन होते हैं, वहां उन पच्चास पर ईकावन का शासन भी भयावह प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी ने कहा—"लोकमत का अर्थ है, जिस समाज की राय हमें चाहिए, उसका मत। यह मत-नीति विरुद्ध न हो तब तक उसका आदर करना हमारा धर्म है।' क्योंकि 'कानूनका वास्तविक आधार लोकमत ही है। लोकमत की उपेक्षा करके कोई कानून दीर्घकाल तक जीवित नहीं रह सकता।"

जयचार्य के जीवन में इसका प्रयोग देखने को हमें यों मिलता हैं। अकेले साधु को अकेली स्त्री से और अकेली साध्वी को अकेले पुरुष से बात नहीं करनी चाहिए। यह शास्त्रीय-मर्यादा हैं, परंतु तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर हो तो बात की जा सकती है, इस विषय में कोई स्पष्टीकरण नहीं था। सं० १९११

में रतलाम में जयाचार्य ने इस विषय पर एक जैसी परम्परा स्थापित करने के लिए पांच संतों को वुलाकर पूछा कि—'तुम लोगों के विचार से तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर होना चाहिए ?'

पांचो संतों ने स्वतंत्र रूप से अपने चिन्तन के आधार पर वह प्रमाण वतलाया। उनमें दो संतों ने सात हाथ, दोने नौ हाथ और एक ने पाँच हाथ की सीमा अधिक से अधिक वतलाई। जयाचार्य ने इन सव को मिला कर पाँच भागों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार मध्यम प्रमाण निकाल ने पर सात हाथ से कुछ अधिक रहा, तब अधिक से अधिक सात हाथ की दूरी में तीसरे व्यक्ति के होने की मर्यादा वनाई। साथ में यह स्पष्टीकरण भी जोड़ दिया कि तीसरा व्यक्ति अंध बधिर, मूक तथा नौ वर्ष से कम अवस्था का हो तो उसे कल्प में नहीं गिनना चाहिए। इस प्रकार और भी अनेक मर्यादाओं के विषय में उन्होंने ऐसे तथा इससे मिलते-जुलते विभिन्न प्रयोग किये।

: ५६ :

आपको उलाहना न मिले

राजनगर वासी श्रावक कहि, पउधारो इण वेला।
नहीं तो "भिक्षु" "भारी" स्वर्ग में भारी औलंमो दैला॥

एक विचारक ने कहा हैं "कविता समझाइवो मूर्ख को सविता राही भूमि पें डारिबो हैं"। मूर्ख को कविता समझाना सूर्य को आकाश से उतार कर पैंरो में रूलाने जैसा है। क्योंकि काव्य व्यंग्योक्ति और वक्रोक्ति से निखरता है। नहीं समझने वाले के लिए व्यंग्योक्ति में कहना जितना खतरनाक हैं, विज्ञ के लिए उतना ही सुन्दर। वि० सं० १६१० की बात हैं। जयाचार्य महाराणा की वीरभूमि मेवाड़ में विहार कर रहे थे। वे राजनगर को छोड़ कांकरोली पधार गये। राजनगर का तेरापंथ के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान हैं, क्योंकि भिक्षु स्वामी की बोध-भूमि होने के साथ-साथ द्वितीयाचार्य भारमलजी का स्वर्गवास तथा तृतीयाचार्य श्री रायचन्दजी के पट्टारोहण का भी उसे गौरव प्राप्त हैं।

बहुत वर्षों तक तेरापंथ का वह पाटनगर भी कहलाता रहा। श्रावकों को आशा थी—जयाचार्य भी यहाँ पधारकर आचार्य पद पर अभिषिक्त होंगे। किन्तु वैसा नहीं हुआ और आप राजनगर को यों

ही छोड़कर कांकरोली पधार गए। राजनगर के श्रावक जयाचार्य के पास आए और बोले—हम कोई विशेष बात लेकर नहीं आए हैं, केवल आपको दो-एक बातें निवेदन करने आए हैं। आप जानते हैं, राजनगर की भिक्षु स्वामी ने कितनी प्रशंसा की है। उनके उत्तर-वर्ती पूज्यपाद भारमलजी और आचार्य श्री रायचन्दजी ने इसे कितना महत्व दिया हैं। आप उसे छोड़कर सीधे ही आगए? स्वर्ग में भिक्षु स्वामी और भारमलजी स्वामी आपको उलाहनों के साथ कहेंगे—"जीतमल! तूँने यह क्या किया? बस, हम लोग तो आप को इस उलाहने से बचाने के लिए आए हैं, आगे जैसी आपकी इच्छा। सुनने वाले सारे गद्-गद् थे ही, पर स्वयं जयाचार्य को भी पिघलना पड़ा और वहाँ से चलकर राजनगर आए। वे पद ये हैं—

"राजनगर किम टालियो जी कांकरोली रै काम।
आप टालिनै नीकल्याजी, पिण म्हांरो बेली छै राम।
भिखनजी गुण भाखिया जी भारीमाल जारी भेट।
स्वग मां ही मिलता थंका थाने ओलम्मो देसी ठेट"।

: ५७ :

भक्त को छूट है

तुलसी की माला ले मालववासी अरज गुजारै।
माला धरावो, या प्यास बुझाओ प्रभु विनती स्वीकारै॥

राजस्थानी कहावत है—"भिखारी और टैंगारी" अर्थात् मांगना भी रोब-दोब गांठकर। ऐसा ही एक उदाहरण जयाचार्य के समक्ष उपस्थित हुआ। जयाचार्य ने वि० सं० १९१० का चतुर्मास नाथद्वारा में सम्पन्न कर कानोड़ की ओर विहार किया। वहां मध्य-भारत मालवा प्रदेश वासी गोमनजी (रतलाम), वृद्धिचन्दजी अग्रवाल आदि श्रद्धालु जन एकत्रित होकर दर्शनार्थ आए। अपने साथ वे तुलसी की एक माला भी लाये। उन्होंने अपने वहाँ चलने की भाव-भीनी प्रर्थना करते हुए कहा—"गुरुदेव! हमारे सारे पूर्वज वेष्णव-सनातन धर्मी थे, तुलसी की माला से भगवत्स्मरण किया करते थे और गौमुखी रखते थे। आपके सन्त वेणीरामजी स्वामी वहाँ आए और उन्होंने हमारे पूर्वजों को जैन धर्मी बनाया। आपकी यह

: ५८ :

कितनी तन्मयता

उचित हाजरी बैठ सुणै तो देख स्वप्न सुखकारी।
ऊभा-ऊभा सुणतां नै वैसाण्या लाभ विचारी॥

प्रत्येक कार्य की सहज सफलता में तन्मयता की अपेक्षा रहा करती है। उसके अभाव में कार्य सर्वांग सुन्दर नहीं बना करता। मर्यादाओं के निर्माण के दिनों में जयाचार्य की तन्मयता बहुत ही अधिक रहा करती थी। सोते-जागते उनके-मष्तिस्क में वह एक ही चित्र उपस्थित रहता। वि० सं० १९१० में जयाचार्य गोगुन्दे (राज०) के आसपास विहार कर रहे थे। नाना मर्यादाओं के निर्माण और परीक्षण के प्रारम्भिक प्रयोग चल रहे थे। कई ऐसे भी मर्यादा-पत्र तैयार किये गए, जिनका वाचन चतुर्विध संघ के समक्ष किया जाता था। उन्हें हाजरी कहा जाता था। हाजरी के समय साधु-जन सारा लेख-पत्र परिषद के समक्ष बद्धाञ्जलि खड़े-खड़े सुना करते थे। उसमें लगभग पौन घण्टे का समय लगता था। यह प्रयोग काफी समय से

: ५९ :

अनुशासन फूलों का हार

ऋषभदास ने कह्यो आप, अब संत ठीक है सारा।
संभूडा समझा लीजे सब कोल ऊंदरा थारा॥

राज्य-शासन में राजा, नेता, मंत्री के परिवर्तित होंने से जिस अप्रत्याशित क्रान्ति की संभावना रहती हैं, धर्म-संघ में एक आचार्य के परिवर्तन से उतना नहीं तो कुछ-कुछ सन्देह कइयों के दिल में होना बहुत संभव है। जब तृतीयाचार्य का स्वर्गवास हो गया और जयाचार्य का आचार्य-पदारोहण हुआ, उस समय कई इस संदेह में थे कि देखें जयाचार्य को संत-सतियां किस श्रद्धेय बुद्धि से स्वीकार करते हैं। क्योंकि आचार्य, किसी को उत्तराधिकारी चुन सकता है, उसे सारे संघ का अधिशास्ता बना सकता है, पर समूचे संघ का श्रद्धेय बनाना उनके वश की बात नहीं हुआ करती। श्रद्धास्पद बनना तो उसकी अपनी क्षमता पर ही निर्भर करता है।

जयाचार्य की योग्यता संघ से छिपी हुई नहीं थी। पन्द्रह वर्ष तक वे युवाचार्य रह चुके थे; फिरभी आचार्य-पद का भार उनके सबल कन्धों पर आ जाने से उनकी सफलता की ओर दृष्टि केन्द्रित होना स्वाभाविक ही था। जयाचार्य मालवा-प्रदेश में विहार कर रहे थे। एक दिन ऋषभदासजी मोदी आपके उपपात में बैठे थे। वे साधुओं की अंतरंग परिषद के श्रावक कहलाते थे। बातचीत के प्रसंग पर जयाचार्य ने उनसे कहा—'ऋषभदासजी! सारे ही संत ठीक हैं।' ऋषभदासजी ने जयाचार्य के कथन को शिरोधार्य करते हुए उस समय एक प्राचीन उदाहरण सुनाया।

"गांव में एक जागीरदार के यहां एक नौकर था। उसका नाम था—संभूडा। वह जागीदार के अति निकट रहता था, अतः वह उनके मुंह लगा हुआ था। जागीरदार जेवर-कपड़े आदि को सुरक्षित रखने के लिए उसे देता। उनमें से मौका देखकर वह कुछ एक अपने घर ले जाता। पूछने पर कहता—उस मकान में कोल, उंदरे बहुत हैं, अतः कंठा व कड़ा तो वे ले गये। जागीरदार भी मन ही मन समझ लेते। कृपापात्र था, इसलिए कुछ नहीं कहते। काम चलता रहा। जागीरदार वृद्ध हो गये। एक वार वे बिमार थे। अतः उस संभूड़े से कहा—देख में जा रहा हूँ, पीछे से मेरा यह पद्मसिंह गद्दी बैठेगा। उसकी प्रकृति कुछ और हैं, अतः तू तेरे सारे कोल (बड़े चूहे) ऊंदरों को समझा लेना नहीं तो छट्टी का खाया हुआ भी वह निकाल लेगा। संभूड़े ने सादर उनकी वात मान ली और अपनी आदत को बदल-लिया।"

ऋषभदासजी ने कहा—'आपके प्रभाव, प्रताप और तेज से सारे संत मन-ही मन समझ गए। यह बहुत ही हर्ष की बात है।'

डण्डे के भय से पशु ही चलाये जा सकते हैं मनुष्य नहीं। मेरे-ध्यान से तो अनुशासन फूलों के हार में पिरोये धागे के समान होना चाहिए, जिसमें ऊपर से तो फूलों की केवल सुकुमारता ही दृष्टिगत हो, पर अन्दर का वह अनुशासन मय धागा किसी को अस्त-व्यस्त न होने दे।

: ६० :

भाषा का विवेक

भाषा समिती में तेरह-पंथी न पकड़ में आवै।
व्यवहारे म्हें साधु समझा सुण-सुण जन चकरावै ।।

भगवान् महावीर ने कहा- " अणुवीइ भासइ से निग्गंथे" विचार-पूर्वक बोलने वाला ही कुशल साधक है। वास्तव में ही भाषा का विवेक बहुत बड़ी चीज हैं। वि० सं० १९११ में जयाचार्य रतलाम में थे। एक दिन एक व्यक्ति आपसे बातचीत करने आया। वह समय साम्प्रदायिक अखाड़ेबाजी का था। बातचीत में किसी को एक 'मिच्छामि दुक्कड़ं' दिलाना महान् दिग् विजयी बनने से कम नहीं माना जाता था। आने वाले ने संभवतः इसी भावना को अपने में छिपाये बातचीत प्रारंभ की। सहसा उसने पास बैंठे साधु के लिए आप से पूछा—"आप इनको क्या समझते हैं ?"

आचार्य के छत्तीस गुणों में एक गुण हैं, छल—युक्त बात करने वाले के छल को भांप लेना और उसमें न फंसना। आपने उत्तर दिया—"हम इन्हें व्यवहार में साधु समझते हैं।"

उसके सारे ही मनसूबे काफूर हो गये। बोल भी न सका। वह तो यह दिवास्वप्न देख रहा था—वे कहेंगे हम इन्हें साधु समझते हैं। मैं उसी समय इनकी बात को पकड़ लूंगा और 'मिच्छामि दूक्कड़ं' दिलाऊँगा। क्योंकि सर्वज्ञ न होते हुए इन्हें साधु कैसे कह सकते हैं? पर उसे भी स्वीकार करना पड़ा, विचार कर बोलने वाला ही पहुंचा हुआ संत होता हैं।

: ६१ :

सही-शिक्षिका

जीमण का कर त्याग मातजी मोखम नै समझायो ।
उचित समय पर महाराणा को शुभ संदेश सुनायो ॥

बालक के लिए कितने ही शिक्षक क्यों न हो, पर उसकी सही शिक्षिका तो उसकी माता ही हुआ करती है। तब ही "मातृ देवो भव" का शुभ संकेत दिया गया। माँ-माँ ही हुआ करती है। माँ अपने बालक में सुसंस्कार कैसे डालती है, इसका एक उदाहरण है। उदयपुर के मोखजी खिवेसरा तेरापंथ के श्रावकों में अपना एक अनूठा स्थान रखते हैं। वे बड़े दृढ़-धर्मी, जयाचार्य के प्रति श्रद्धाशील और शासन-प्रभावक श्रावक थे। पर उनका पूर्व इतिहास बड़ा ही विचित्र था। तेरापंथी वनने से पूर्व उनकी माता ने उन्हें धर्म का तत्त्व समझाया। वे तत्त्व तो समझ गए, पर गुरु-दीक्षा लेने को तैयार नहीं हो रहे थे। माता ने बहुत कुछ समझाया किन्तु टालमटोल करते रहे। समय बीत गया। दीपमालिका आगई। माता ने सोचा, यह तो कालक्षेप कर रहा है। चतुर्मास के बाद सन्तों का विहार हो जाएगा, फिर क्या बनना है। एक दिन अपूर्व साहस और आत्मीयता के साथ उसने कहा—"देखो मोखम ! जब तक तू गुरु-धारणा नहीं लेगा, तब तक मैं खाना नहीं खाऊंगी, न अपने हाथ से तुझे खाना परोसूँगी और न तेरे से बोलूँगी ही।" मोखजी सुन कर सन्न रह गए। वे माता के प्रति वड़े विनीत थे, अतः

उसी समय सन्तों के पास गये एवं गुरु-धारणा लेकर लौट आए और माता से कहा—"अब तो खाना ला, मैं गुरु-धारणा ले आया हूँ।"

माता को विश्वास नहीं हुआ। सन्तों के पास आकर सारी बात पूछी। संतो ने कहा—हाँ, गुरु-धारणा कर गया है। माता ने तब अपने पास बैठाकर उन्हें भोजन कराया। वे ही मोखमजी आगे चलकर बहुत बड़े दृढ़-धर्मी बने और दूसरों को धार्मिक तत्त्वों की प्रेरणा दिया करते। उदयपुर महाराणा के दरबार में भी समय-समय पर धर्मचर्चा चलाते ही रहते थे। वि० सं० १९१२ में जयाचार्य ने उदयपुर में चतुर्मास किया। चतुर्मास की समाप्ति पर विहार के समय शहर के बाहर ठहरने के लिए महाराणा से उनके दिवान् खाने के लिए पूछा। महाराणा स्वरूपसिंहजी ने मोखमजी से कहा—"एक दिन ही नहीं, एक महीने भी रहे तथा जब भी आए तभी रहे तो भी हमारी आज्ञा है। मेरी ओर से महाराज साब् को चार बातें निवेदन करना :—

१. दंडवत् प्रणाम कहना।

२. मेरी ओर से कहना पुनः शीघ्र पधारें।

३. कृपाभाव बनाये रखें।

४. क्योंकि संतों की कृपा से भला होता है।

प्रेरक में एक अनूठी शक्ति होती है। वह अपने द्वारा बनाये गये व्यक्ति के माध्यम से एक कठोर शासक के दिल में भी संत-जन के प्रति गहरी भावना भर देता है।

कठिन व अद्‌भुत तपस्यायें

उत्कृष्टो तप छःमासी को सदा सुणाता आया।
छवमास्याँ का कई पारणा कई बार करवाया॥

भगवान् महावीर के शासन-काल में उत्कृष्ट निर्जल तप छव महिनों का हो सकता था। उस समय के शारीरिक संघयण विशिष्ट थे। वर्तमान में उसमें ह्रास ही हुआ है, किन्तु यह म[illegible]। आश्चर्य ही है कि संघयण की निर्बलता में भी तेरापंथ-संघ का [illegible]रण इतिहास अपने आप में समृद्ध, समुज्जवल व विशेष प्रेरक [illegible]क जयाचार्य के शासन-काल में दो बार सात-सात-छव मासियों से [illegible] कुछ अधिक के पारणे हुए। प्रथम बार वि० सं० १९११ में जिन-जिन साधु-साध्वियों के पारणे जिन-जिन स्थानों पर हुए, उनकी तालिका निम्न हैं :—

१. मुनि श्री अनोपचन्दजी, २१८ दिन (सात महीने आठ दिन का) नाथद्वारा (राज०)
२. मुनि श्री शिवजी छवमासी तप, मोखणुन्दा (राज०)
३. मुनि श्री खूमजी १९३ दिन की तपस्या, मोखणुन्दा (रा०)
४. साध्वी श्री रंभाजी छवमासी, पहुना (राज०)
५. साध्वी श्री जेताजी छवमासी, पुर (राज०)
६. साध्वी श्री ज्ञानाजी छवमासी, पुर (राज०)
७. साध्वी श्री हस्तूजी १९३ दिन, पुर (राज०)

एक कवि की उक्ति है "मुर्दे भी जिन्दे हो सकते हैं, कोई प्राण फूंकने वाला हो"। मुर्दे नहीं तो जिनकी चेतना मूर्च्छित हो चली हो, उन्हें तो जगाकर चलाया ही जा सकता है, यदि जागृति देने वाला हो। यह सब कुछ प्रेरक पर अवलम्बित रहता है।

वि० सं० १९१० में साध्वी श्री दीपांजी पाली में विहार कर रही थीं। एक श्रावक घी लेकर कहीं जा रहा था। उसने साध्वीश्री के दर्शन किये। घी बहरने के लिए प्रार्थना की। पुनः-पुनः भक्ति-संभृत-प्रार्थना ने साध्वीजी का हृदय पिघला दिया। बहरने के लिए ज्यों ही उन्होंने पात्र रखा कि श्रावक ने बड़े तीव्र भावों से करीब ३-४ सेर घी उस पात्र में उडेल दिया। साध्वी श्री दीपांजी ने पांच-सात साध्वियों को वह घी खिलाया। सन्ध्या होते ही साध्वियों से बोली—"क्या तपस्या करोगी?"

"उपवास कर लेंगी"।

"क्या उपवास? घी खाया है, कुछ आगे बढ़ो।"

बेले, तेले से बढ़ते-बढ़ते आखिर वहीं खड़े-खड़े[1] पांच साध्वियों ने छव महीने की तपस्या पचख ली। पांच सतियों के साथ दो सतियां और सम्मिलित हुईं और उन सातों का पारना एक साथ हुआ।

---

१. दीपांजी ने जिन पांच सतियों को तपस्या करवाई थीं, उनके सम्बन्ध में यह गाथा प्रसिद्ध है :—
मलूकां, ज्ञानां, गुणरासी, जेता, सिणगारां नै झूमां, पांचु खटमासी चउमासो उतरिया मेली, ए चिहुं समण्यां इक पख सेवा गुरूआणां झेली।

: ६३ :

गुरुत्व का मर्म

बीकानेरी मिश्री सम, आचारज होणा चावै।
चोट सह्यां पाली वाला नै, पावस खुद बगसावै॥

गुरु वज्र के समान कठोर और कुसुम के समान कोमल होते हैं। वे भूल व अपराध पर गहरी चोट करते हैं, तो गुण व भक्ति पर कृपा का माधुर्य भी दिखलाते हैं।

वि० सं० १९१२ की बात है। पाली के श्रावकों ने जयाचार्य से नामग्राह साधुओं के चतुर्मास के लिए विशेष आग्रह किया। तेरापंथ की यह उज्ज्वल परम्परा रही है कि चतुर्मास के लिए आचार्य श्री से सामूहिक विनती की जा सकती है, किन्तु कोई विशेष नाम लेकर नहीं। परम्परा को जानते हुए भी उसकी अवज्ञा करने पर पाली के श्रावकों को दण्ड-रूप साधु या साध्वियों का चतुर्मास ही नहीं दिया गया। श्रावक बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने एक चाल चली। जयाचार्य का चतुर्मास उस वर्ष

उदयपुर निश्चित था। वहां के श्रावकों के हस्ताक्षर का एक जाली, पत्र बनाकर वे पाली के पांच कोस दूर खैरवा चतुर्मास करने के लिए आई हुई साध्वियों के पास पहुंचे। पत्र दिखाया। उसमें लिखा था—"पाली चतुर्मास की कोई व्यवस्था न हो सकने के कारण खैरवा चतुर्मास वाली साध्वियां पाली चतुर्मास करें; ऐसा जयाचार्य का आदेश हैं।" साध्वियों को उसमें सन्देह होने का कोई कारण नहीं था। अतः वे पाली आगईं और श्रावक अपनी चाल में सफल हो गए। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होने के बाद श्रावक क्षमा-याचना करने के लिए आए और अपने इस षडयन्त्र का भेद खोलते हुए साध्वियों से पुनः-पुनः क्षमा-याचना करने लगे।

साध्वियों का मन उनकी इस धोखेबाजी पर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा। श्रावकों को कड़ी फटकार लगाते हुए उन्होंने कहा—'तुमने हमारे साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया है। चतुर्मास आरम्भ हो गया हैं; अतः हम कहीं अन्यत्र विहार नहीं कर सकतीं, किन्तु हम चार ही महीने तक न तो तुम लोगों को व्याख्यान ही सुनायेंगी और न ही तुम्हारे घरों की गोचरी ही करेंगी।'

श्रावक बड़ी दुविधा में फंस गए—"हाथ भी जलाए और होले भी न खाये"। कुछ श्रावक उदयपुर गए। जयाचार्य के समक्ष पहुँचते ही जोर-जोर से पुकार उठे—"रावला चोर हाजर हैं।" जयाचार्य के चरणों में इस घोर अपराध की क्षमा मांगते हुए बोले— "हमने जो कुछ किया, वह अक्षम्य है, आप जो चाहें प्रायश्चित्त दें, उलाहना दें, हम दोषी हैं ,चोर हैं।"

जयाचार्य ने कड़ा उलाहना देते हुए कहा—"तुम लोग चतुर्मास मांगने योग्य नहीं हो। क्या श्रावक के ये लक्षण हैं ?"

श्रावक आत्म-ग्लानि में गले जा रहे थे। जयाचार्य का उलाहना वे घी की तरह पीते गए और बार-बार विनय कर गुरु के उस कोप को भी उन्होंने पुण्य-प्रसाद में बदल दिया।

श्रावकों की सहिष्णुता और विनय पर जयाचार्य का दिल पिघल उठा। तत्रस्थ साध्वियों के लिए उन्होंने व्याख्यान और गोचरी की आज्ञा और अपना आगामी चतुर्मास पाली में करने की उद्घोषणा करते हुए "बीकानेरी मिश्री" के तुल्य गुरुता का मर्म इतिहास के पृष्ठों पर अंकित किया।

: ६४ :

एक प्रेरक पद

कुंभकार अन्दर रक्षाकर ऊपर चोट लगावै।
मोतीड़ो तो रंग-रंगीलो कांटों नहीं बनावै॥

भगवान् महावीर ने कहा है—"नव दीक्षित मुनि की सेवा-परिचर्या करने वाला तीर्थंकर-गोत्र का बंध कर सकता है" क्योंकि नव दीक्षित साधु को संभालना सरल कार्य नहीं है। उसे यदि केवल दुलारा ही दुलारा जाय तो सुख-सीलिया हो जाये, केवल-वैसा ही करता जाये तो बहुत संभव हैं, वह साधना से स्खलित भी हो जाये। उसका जीवन संतुलित रखने के लिए कुशल कुंभकार जैसे व्यक्ति की आवश्यकता हुआ करती है, जो ऊपर से चोटें लगाकर भी अन्दर से उसे अपने कोमल कर के सहारे से संभालता भी रहे। जयाचार्य के दुलारभरे अनुशासन के उदाहरण के लिए एक घटना बहुत ही प्रेरक है। वि० सं० १९१३ का आपका चतुर्मास पाली (मारवाड़) था। वहाँ लखासर (बीकानेर) के एक नव वर्ष के बालक की आसोज सुदी २ को दीक्षा हुई, जिनका नाम—मुनि श्री मोतीजी था। वे डागा गोत्र के ओसवाल थे। वे संघ के एक असाधारण और ख्याति-प्राप्त संत बने। उनकी व्याख्यान-

शक्ति व गायन-कला अपने आप में अनूठी थी। परन्तु वाल्यावस्था में वाल-चापल्य तो हुआ ही करता हैं, फिर भी साधक की साधना में सजगता ही उसकी अमूल्य निधि होती हैं। जव जयाचार्य पंचमी समिति को पधारते तव उनके आगे-आगे चलते। वाल मुनि चपलता से यदा-कदा ईर्या-समिति में स्खलना कर दिया करते। जयाचार्य के आंख में मोतियां-विन्दु होने से नजर कम पड़ती थी। एक दिन आगे चल रहे थे, तव जयाचार्य के पैर में कांटा लग गया। जयाचार्य ने आशु-कविता में तत्काल उन्हें शिक्षा दी :—

मोतीड़ो तो रंग रंगीलो, चालै आंटो-आंटो।
ईर्या समिति पूरी नहीं जोवै, नहीं वतावै कांटो॥
ओ तो लखासर को डागो, म्हांने पाली मांही लाधो।

इस मृदु उपालंभ से मुनि श्री को सचेत और सजग होने का जो अवसर मिला, वहां प्रत्येक को महत्व मिले विना नहीं रहेगा, वालक वादशाह होता है। उसकी देख-रेख भी एक शाहंशाह-सी करनी पड़ती है।

: ६५ :

श्रद्धा का जादू

फोजां को सुण विघ्न, गीतिका, "विघ्न-हरण" की गावै।
ज्वाला जाग्यां "मुणिन्द मोरा" गावै जयमल भावै॥
मूत्र-बंध हुआ, "भिक्षु म्हांरै—प्रगट्या भरत खेतर में।"
भिक्षु कै प्रति दृढ़ श्रद्धा को परिचय ओ स्फुटतर में॥

सत् श्रद्धा का जादू अनूठा हुआ करता है। उसमें शक्ति का अद्भुत सामर्थ्य निहित रहता है और उसके सामने संभव-दुःसंभव की सीमाओं को कोई अवकाश ही नहीं है। भयंकर से भयंकर संकट की घड़ियों को भी सुख के क्षणों में परिवर्तित करने का सामर्थ्य श्रद्धा में होता है। संवत् १९१२ में जयाचार्य मारवाड़ के कंटालिया (भिक्षुनगर) में विराजमान थे। अकस्मात् सारे गांव में इस समाचार से सन-सनी फैल गई कि गांव को लूटने के लिए फौजें आ रही हैं। गांव वाले कुछ क्षणों के लिए संत्रस्त हो गए। आपको भी समाचार मिला। आपने लोगों को धैर्य बंधाते हुए कहा—इतने क्यों घबराते हो? होना क्या हैं? अपने तो भिक्षु स्वामी की शरण हैं। उनका नाम-स्मरण ही सर्वविघ्नहारी है। आप तत्काल एक गीतिका गाने लग गये। लोगों को कुछ-कुछ धीरज हुआ

और गीतिका पूरी होते-होते समाचार मिला, लूटेरे गांव में न आकर बाहर के बाहर आगे चले गए। सारा उपद्रव शान्त हो गया। उस समय की गाई हुई वह गीतिका बहुत ही चामत्कारिक सिद्ध हुई; अतः आज भी वह "विघ्न हरण की ढ़ाल" के नाम से प्रसिद्ध है। उसका बीज मन्त्र 'अ, भी, रा, शि, को" हैं। "अ "मुनि श्री अमीचन्दजी," भी" मुनि श्री भीमराजजी, "रा' मुनि श्री राम-सुखजी, "शि" मुनि श्री शिवजी, "को" मुनि श्री कोदरजी – इन पांच मुनियों का "वह स्तोत्र" हैं। जयाचार्य ने अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा – अरिहंत भगवान् के अतिशय के प्रभाव से नियति भाव के अतिरिक्त सारे कष्ट दूर होते हैं, उसी प्रकार इस स्मरण से अवश्यमेव सारे संकट दूर होते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हैं। आगे के कुछ पद्यों में आपने यहाँ तक कहा—चंद पन्नति सूत्र की दूसरी गाथा की तरह यह स्मरण भी बहुत ही प्रभावक है।

दूसरा विघ्न आया,(¹) वि० सं० १९१४ की कार्तिक शुक्ला १० को। उन दिनों जयाचार्य बीदासर में वर्षावास बिता रहे थे। बैंगाणियों की पुराणी पोल में मानमलजी, जयचन्दलालजी बैंगाणी के मकान में विराजे हुए थे। वहां सहसा एक रात में भयंकर उपद्रव खड़ा हुआ। जिस मकान में आप थे, वहाँ अंगारे बरसने लगे। जयाचार्य के अतिरिक्त सारे संत बेहोश हो गये। जयाचार्य ने अपना आत्म-साहस बटोरा। उसी समय एक गीतिका बनायी, जिसमें श्रीमद् भिक्षु स्वामी और संघ के भावितात्मा साधु-

---

कई इस घटना को वि० सं० १९१५ फागन सुदी १० की बताते हैं।

साध्वियों का नाम-स्मरण किया गया हैं। कुछ ही क्षणों में सारा विघ्न दूर हो गया। संतों की वेहोशी दूर हो गई। वह गीतिका 'मुणिन्द मोरा भिक्षु नै भारिमाल" के नाम से प्रसिद्ध है।

तीसरी घटना है, वि० सं० १९२९ की, जवकि जयाचार्य काफी वृद्ध हो चुके थे। आप वीदासर में थे। वैसाख शुक्ला ६ के दिन जीवन अकस्मात् ही खतरे के विन्दु तक पहुँच गया था। उनका पेशाव रुक गया। वहुत उपचार किये गये पर कोई लाभ नहीं हुआ। जयाचार्य ने अपना उपचार आरम्भ किया। भक्ति में विभोर होकर उन्होने सद्य रचित गीतिका का गायन आरम्भ किया—"भिक्षु म्हारे प्रगट्याजी भरत क्षेत्र में ज्यारों ध्यान धरु अन्दर में" सात-आठ पदों की वह गीतिका पूरी ही नहीं हो पाई थी कि पेशाव उतर गया और सारा संकट दूर हो गया। खतरे के बिन्दु पर पहुँचा हुआ जीवन भी थोड़ी ही देर में साधारण स्तर पर आ टिका और आप स्वस्थ हो गये।

इन तीनों घटनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हैं कि आचार्य भिक्षु के प्रति जयाचार्य कितने श्रद्धाशील रहे और उन्हें समर्पणभाव व पूर्ण निष्काम कर्म का फल समय पर किस प्रकार मिलता रहा।

: ६६ :

नमइ मेहावी

म्हांरे सरिसा जीतमल्ल यदि दो सो होज्या भेला।
भिक्षु कै डावै पग-नख कै तदपि न साथ तुलै ला ॥

स्वेट मार्डेन ने जहाँ कहा—"मनोवांछित पदार्थ का मूल श्रद्धा ही हो सकती हैं।" वहाँ गीता में कहा—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।" पर वास्तव में है यह कठिनतम कार्य, अपना आत्म-संगोपन करके अपनी विनय-विनम्र वृत्ति से वृद्धानुयायी रहना। ऐसा तो वही कर सकता हैं, जिसने यह तथ्य समझ लिया हो—कोई कितना ही महान् हो, लेने के लिए तो उसे झुकना ही पड़ता हैं।

जयाचार्य की तर्क-प्रवीण प्रज्ञा, प्रत्युत्पन्न मति गुढतम तत्त्व के तह तक पहुंचने की पैनी दृष्टि देखकर एक भक्त ने कहा—"आप तो भिक्षु स्वामी से भी बढ़े-चढ़े हैं।"

जयाचार्य ने तत्क्षण उसे टोकते हुए कहा—"मेरे जैसे एक नहीं दो सौ जीतमल भी यदि इकट्ठे हो जाए तो भी श्री भिक्षु स्वामी के वांये पैर की अंगुली के नख की भी तुलना नहीं कर सकते।"

सुनने वाले को लगा वास्तव में ही महत्ता इतने नम्र को वरण किया करती है।

: ६७ :

विचार बदल गया

जय फरमावै अनोपचंदजी वो मत राख्या ध्यान ।
पत्र पांच शत लिखणा लेकर, मालव कियो प्रयाण ।।

तेरापंथ के तपस्वियों की यशस्वी परंपरा में मुनि श्री अनोपचंदजी (नाथद्वारा) अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उस मेवाड़ी वीर की तपः-साधना बहुत ही रोमांचकारिणी रही है। वि० स० १९१५ की बात है। जयाचार्य लाडनूं (राज०) में थे। तपस्वी ने उनसे प्रार्थना की—"कल से मैं एक मास की तपस्या करना चाहता हूँ।" सायं समय आहार करके पंचमी समिति के लिए जाने लगे तो महासती सिरदारांजी ने तपस्वी से कहा—"आज कुछ घृत अधिक हो गया है, अतः उसे उठाना है (खाना है)।"

"मैंने आहार कर लिया है, अब भूख नहीं है"-तपस्वी ने कहा।

"आप तपस्वियों के क्या पता लगता है ? किसी कोने में पड़ा रहेगा"—महासतीजी ने कहा।

अच्छा, जैसी आप की मर्जी, कहकर कढ़ी आदि में मिलाकर लगभग एक सेर घी वे पी गए। समय की बात थी। रात में अपच होगया व काफी दस्त लगे। सूर्योदय होते-होते वे बहुत ही कमजोर हो गए।

जयाचार्य ने उनसे कहा—"तपस्वी! अब वह ध्यान (मास-खमण-करने वाला) न रखना, फिर कभी कर लेना।"

तपस्वी ने जयाचार्य के पैर पकड़ते हुए कहा—"नहीं अब मेरा वह ध्यान नहीं रहा। पहले तो एक मास का ही विचार था, अब मुझे छः महीने पचखा दीजिये। देखने वाले व स्वय जयाचार्य विस्मित थे। तपस्वी ने अति आग्रहपूर्वक छवमासी तप पचख कर ही जयाचार्य के पैर छोड़े। साथ ही विशेष बात यह थी कि उस छवमासी तप में ५०० पन्नों की प्रतिलिपि करना (लिखना) और वहाँ से विहार कर मध्यभारत (मालवे) को प्रस्थान करना। मालवे तक पहुंच कर पांच सौ पन्नों को लिखकर उन्होंने छव-मासी तप की सानन्द समाप्ति की और सुख की सांस ली। दुनियां को दिखा दिया—मनुष्य के लिए असाध्य और असंभव कुछ नहीं है, पर पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

१—मुनि श्री अनोपचन्द्रजी ने वि० स० १९०९-१०-११ में छः मासी तथा १९१२ में २१८ दिन का तप किया था।

२—पांच सौ पन्नों की श्लोक-संख्या प्रायः बीस हजार से ऊपर होती है। दर्शकों को आश्चर्य तो तव होता, जब उस उत्कट तपस्या में भी आप एक दिन में पांच-पांच, चार-चार पन्ने लिख लेते।

जयाचार्य ने एक जगह उनके बारे में कहा हैं :—

"एक पानो रगड्यो, दोय पाना रगड्या तीजो पानो रगड़ै रे।
चौथो पिण कर देवे त्यार पछे पांचवां सू झगड़ै रे॥
अनोपचंद अणगार उठ्यो, कर्मा ने रगड़ै रे।"

: ६८ :

विचित्र राजनीतिज्ञ

थांरी नीति को जय स्वामी, के लागै अन्दाजो।
युवपद-हित भी नाम बताता, छोग, हरख, मघराजो ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा—"राजधर्म सर्वस इतनो ही, जिम मन मांही मनोरथ गोई"। राजनीति का सार इतना ही है—अपने मन के भावों को छिपा कर रखो, किसी के सामने प्रकट न होने दें। क्योंकि प्रकट हो जाने के बाद वह रस भी नहीं रहता और बहुधा झगड़े भी खड़े हो जाते हैं। जयाचार्य इसके अपवाद थे। उनसे कोई पूछता—"आप अपना उत्तराधिकारी किसे बनायेंगे?" आप तीन नाम बताते : छोग, हरख, मघराज—इन तीनों में से एक को देने का विचार है। अन्त में मुनि श्री मघराजजी को युवराज पद दिया।

: ६९ :

उत्तराधिकार समर्पण

बीसै तेवीसी में मघ ने, युव पदवी बगसाई।
लम्बी-चौड़ी ढालढाल,-संचालन विधि समझाई ॥

आचार्य के अन्यान्य कार्य-कलापों में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण कार्य होता है, एक सुयोग्य उतराधिकारी का चुनाव। यदि कोई आचार्य नियतिवश ऐसा न कर पाये तो वह संघ के ऋण से उऋण नहीं गिना जाता। जयाचार्य ने यह ऋण बहुत पहले ही चुका दिया था। अपनी साठ वर्ष की आयु में अर्थात् अपने शेष जीवन के अट्ठारह वर्ष पूर्व ही मुनि श्री मघराजजी को संघ के सामने युवराज घोषित कर दिया था।

उस समय मुनि श्री मघराजजी की आयु २३ वर्ष की थी। उनका जन्म १८९७ चैत सुदी ११ और दीक्षा १९०८ मिगसर वदी १२ की थी। युवराज-पद प्रदान-दिन था—१९२० आसोज वदी

१३। आपका जन्म-स्थान बीदासर, दीक्षा-स्थान-लाडनूं, युवराज-पद-प्रदान-स्थान चूरू (राजस्थान) था। जितने आचार्य होते हैं, वे प्रायः अपना उत्तराधिकारी चुनते ही हैं, पर आपके चुनाव की दो विशेष बातें थीं। जयाचार्य बहुत पहले से ही अपने उत्तराधिकारी के लिए तीन नाम लिया करते थे—छोग, हरख, मघराज। उन्हीं श्री छोगजी ने युवाचार्य पद-प्रदान से पूर्व एक गीतिका बनाकर जयाचार्य से प्रार्थना की—"मैं सविनय निवेदन करता हूं। आप मुनि मघराजजी को युवराज-पद दें। मैं उनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हुआ रहूँगा। आप किसी बात का विचार न करें।"

आचार्य का क्या कार्य होता है? इस कर्तव्य-बोध के लिए जयाचार्य ने मुनि श्री मघराजजी को लक्ष्य कर पद्यमय एक रचना लिखी, जिसके १६ दोहे और प्रायः ७१ पद्य हैं। उसमें बताया गया है - आचार्य को संघ-संचालन कैसे करना चाहिए। युवाचार्य को कर्तव्य-बोध देते हुए कहा है—"देखो, साधु-सतियों की सारी संपदा तुम्हारे हाथों में है। इनको मर्यादाओं का पालन खूब सतर्कता से करवाना, तुम्हारा काम है। क्योंकि मर्यादा अपने-अपने में बहुत बड़ी चीज होती है, वह कभी छोटी नहीं हुआ करती। इसे छोटी समझने वाला ही छोटा हुआ करता है। कोई कैसा भी क्यों न हो, चाहे शरीर से रोगी हो, चाहे मन से रोगी, पर यदि वह संयम-पालन करना चाहता हो तो उसे सब तरह से सहयोग देना, संयम-पालन करवाना तुम्हारा कर्तव्य है। कोई बड़ा हो या छोटा, विज्ञ हो या अज्ञ। यदि उसकी साधु-व्रत-पालन की भावना न हो तो उससे

भय नहीं खाकर उसे तत्क्षण संघ से अलग कर देना चाहिए; क्योंकि अपना सम्बन्ध आचार-विचार का है[1]।"

अन्त में इसमें कहा गया है—"मैंने मुनि मघराजजी को युवराज-पद देकर शिक्षा दी है। केवल मघराज ही नहीं, जो भी आगे आने वाले आचार्य हैं, उन सब को मुझे यही कहना है। किन्तु एक बात है, मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार यह शिक्षा ही है, आगे तो जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करना। पर करना वही, जो धर्म-शासन और साधु-धर्म की वृद्धि करने वाला हो[2]।"

---

१. नीत हुवै चारित्र पालण री, दीजे स्हाज अपारी रे।
ए संगला तुज शरणे आया तूं सहुनो नेतारी रै ॥५८॥
कोइक तो हुवै तनरो रोगी, कोई मन-रोगीधारी रै।
नीत हुवै चरित्र पालण री, स्हाज दियै हितकारी रै ॥५९॥
चरित्र पालण री नीत हुवै नहीं। तसु काढे गणकारी रै।
तिणरी काण भूल मत राखै, डर-भय दूर निवारी रै ॥६०॥

२. पद युवराज शिष्य मघराज भणी ए शिक्षा सारी रै।
वलि अनागत गणपति हवै, तसु एहीज सीख उदारी रे ॥६६॥
शिक्षा ए गणपति नै दीधी, मैं निज बुद्धि अनुसारी रे।
वलि तुज नै सुख हुवै जिम कीजे, शासन-गण वृद्धिकारी रै॥

: ७० :

कर्ज चुकाने जाते हैं

थांरी देव ! भक्त-वत्सलता, म्हें कितरीक सरावां ।
(म्हें) सिरदारांजी देणों देवण, भंडारी रो जावां ॥

व्यक्ति के जीवन में कुछ एक कार्य इतने अनूठे हो जाया करते हैं, कि उनकी स्मृति चिर-काल तक भुलाई नहीं जा सकती । वि० सं० १९२० की बात है । जयाचार्य का चातुर्मास चूरू (राज०) था । वहां मुनिपतजी को, मगसर बदी १ को उनकी माता की आज्ञा से दीक्षा दी । वे जयपुर के थे, पर उनके दादे का एक भाई थांनजी जोधपुर में रहता था । लोगों ने उसे बहकाया । वह भी कुछ अक्खड़ प्रकृति का था । राज्य-कर्मचारियों के सामने जाकर चिल्लाया— "मेरे पोते को बिना आज्ञा मूंड़ लिया है ।" जोधपुर के तत्कालीन महाराज तख्तसिंह ने आज्ञा दे दी—"जीतमलजी को और बालक को पकड़ लाओ ।" उतावलपन में "राठौरी च्चक्के" ऐसे चला ही करते थे । राज्य के घुड़सवार सिपाही जयाचार्य को बंदी बनाने का आदेश-पत्र लेकर चल पड़े । जयाचार्य उन दिनों लाडनूँ में थे जो कि जोधपुर से प्रायः सवा सौ मील की दूरी पर है । घुड़सवारों के चलने के अनन्तर बहादुरमलजी भंडारी को इस बात का पता

लगा। उन्हें बहुत बड़ा आघात लगा। भण्डारीजी जहां एक कुशल शासक थे, वहां तेरापंथ के प्रति भी उनकी अटूट निष्ठा थी। इस संवाद से उनका खून खौल उठा और रात में सहसा राजमहलों में पहुँचे। महाराज सो गये थे। आधी रात के समय रणवास में सोये हुए महाराजा को जगाना साधारण व्यक्ति के लिते मौत को न्योता देना था। पर उनका प्रभाव जोधपुर-दरवार के यहां बहुत अधिक था। अतः कहावत भी चल पड़ी थी—"वारै नाचै नाजरियो, मांहे नाचै वहादरियो" अर्थात् रनवास में तो नाजर का वोलवाला है और राज्य में भण्डारी वहादुरमल का।

दरवार की आंखें खुलीं और उन्होंने चोंक कर कहा—"वहादुर! इस समय क्यों आया?" भण्डारीजी ने सारी स्थिति स्पष्ट की और कहा ऐसे साधुओं को गिरफ्तार करवाते हैं? सारा भेद समझाने पर दरवार को अनुताप हुआ। अर्द्ध रात्रि में दूसरा आदेश लिखकर भण्डारीजी को सौंपा। भंडारीजी ने दूसरे घुड़सवार भेजे।

जयाचार्य उन दिनों लाडनूं में दुलीचंदजी दूगड़ के मकान में विराजते थे। गिरफ्तारी के आदेश का संवाद लाडनूं पहुँच चुका था। श्रावक-समाज अत्यधिक क्षुब्ध हो गया। दृढ़निष्ठ व पौरुष-शाली दुलीचंदजी दूगड़ का खून खौलने लगा। उन्होंने ललकार के साथ श्रावक-समाज को एकत्रित किया और सैंकड़ों मोयल जाति के राजपूतों के साथ स्वयं दरवाजे पर आकर डट गये। उन्होंने जया-चार्य से निवेदन किया—"दुलीचंद के जीवित रहते कोई भी व्यक्ति

आपकी ओर टेढ़ी नजर से नहीं देख सकता।" अपने-अपने पौरुष को सम्भालकर श्रावक-समाज भी ठिकाने के आसपास आकर डट गया।

जोधपुर-दरबार का पहला आदेश लेकर जो घुड़सवार चले थे, वे मार्ग में किसी कार्यवश रुक गये और दूसरा आदेश लेकर जो घुड़सवार चले थे, वे पहले ही लाडनूं पहुंच गये। घुड़सवारों को देखते ही जनता आग उगलने लगी, किन्तु जब उनके साथ भंडारीजी के सुपुत्र किशनमलजी को देखा, उनके विचारों में कुछ परिवर्तन आया। किशनमलजी ने आगे बढ़कर श्रावकों को तथा जयाचार्य को स्थिति से परिचित किया। श्रावक-समाज हर्ष-विभोर होकर झूम उठा। सभी व्यक्तियों के मुंह पर एक ही वाक्य मुखरित हो रहा था "जयाचार्य के पुण्य-प्रभाव व भण्डारीजी की सामयिक सूझबूझ से सारा संकट दूर हो गया।"

कुछ दिनों बाद भंडारी बहादुरमलजी जयाचार्य के दर्शनार्थ आये। जयाचार्य ने उनके सत्साहस और दृढ़भक्ति की सराहना करते हुये कहा—"भंडारीजी ने संघ की प्रभावना में कार्य तो इतना बड़ा और ऐसा किया है, यदि कोई साधु होता तो मैं उन्हें युवाचार्य पद दे देता। फिर भी इस वर्ष का चातुर्मास जोधपुर करने का विचार है।" सुनने वाले जयाचार्य की गुण-ग्राहकता पर मुग्ध होकर भण्डारीजी के आत्म-बल की प्रशंसा करने लगे।

जयाचार्य ने साध्वी प्रमुखा श्री सिरदारांजी से कहा—"सिर-दारांजी! भंडारीजी का कर्ज चुकाने के लिए हम तो जोधपुर जा रहे हैं। तुम वृद्ध हो, अतः यहीं रहो।

: ७१ :

मातृदेवो भव

वीरप्रसूता श्री कल्लुजी, वीरवृत्ति हृदधारी।
अन्त समय की है संलेखण, अति रोमोद्‌गमकारी॥

साध्वी श्री कल्लुजी भी युग-युग तक सन्नारियों में गाई जायेगी, जिन्हें जयाचार्य जैसे पुरुष-रत्न की माता होने का गौरव प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने तीन लाड़लों को जैन-शासन की सेवा में समर्पित किया और स्वयं भी पूर्ण विरक्ति-भाव से आत्म-साधिका वनी। साधना-मार्ग में रत रहकर उन्होंने अपने जीवन-स्वर्ण को काफी तपाया। वहुत वर्षों तक तपस्या, सेवा, स्वाध्याय में लीन रहकर अनूठा आदर्श प्रस्तुत किया। उनके अंतिम समय की संलेखणा तो वहुत ही रोमांचक थी। जब शरीर छोड़ने की भावना जगी, पहले-पहल एक महीने तक ऊनोदरी (कमखाना) तप आरंभ किया फिर पन्द्रह दिन तक एकांतर तप किया। व.द में ५० तेले और वीच-वीच में ८ वेले। पारणे में दो रोटियां तथा फिर एक रोटी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाना। इस प्रकार

बहुत ही विचित्र संलेखणा कर सं० १८८७ सावण सुदी को १२ खैरवा मारवाड़ में पूर्ण समाधि-भाव से पंडित-मरण प्राप्त किया। उनकी संलेखणा के समय जयाचार्य ने भी उन्हें दर्शन दिए। तीनों बान्धव मुनि भी वहां आए। जयाचार्य ने उस समय अपना पूरा-पूरा योग देकर उस प्रसंग को यत् किंचित् रूप से मातृ-ऋण से उऋण होने का अवसर माना।

: ७२ :

बड़े भाइयों के प्रति

भक्ति अनूप, स्वरूप शशी की जय सह पय जल वारी।
उपाध्याय सम बड़ बन्धव नैं सहाय दिरायो भारी॥

कृतघ्नता घास की तरह नैसर्गिक है, जबकि कृतज्ञता गुलाब की भांति अलौकिक। उसे पोषण चाहिए, जल चाहिए, देख-रेख चाहिए और भी बहुत कुछ चाहिए। वास्तव में देखा जाये तो उपकार के प्रति कृतज्ञता का भाव किसी विरल पुरुष में ही हो सकता है। जयाचार्य के जीवन में उसके प्रत्यक्ष दर्शन हर मोड़ पर होते हैं। वे भिक्षु स्वामी के प्रति, जन्मदातृ अपनी माता के प्रति, विद्या-गुरु के प्रति और भी अनेकानेक आराध्यों, सहयोगियों, शिष्यों के प्रति जहां आभार-भावना लिए चले हैं, वहां अपने ज्येष्ठ बंधु मुनि श्री स्वरूपचंदजी स्वामी को भी नहीं भूले हैं। बड़े भाई होने के नाते बचपन से ही जयाचार्य का लालन-पालन स्वरूपचन्दजी स्वामी के द्वारा हुआ। साधु बनने के बाद भी जीवन-निर्माण में मुनि श्री का पूरा-पूरा हाथ था ही। वे अपने लघु बंधु को विकास के उच्च शिखर पर देखना चाहते थे। मुनि श्री की वह भावना फलवती बनी। आचार्य-पद पर आरूढ़ होने के बाद भी

संघ की प्रत्येक गतिबिधि के विकास में मुनि श्री जयाचार्य के पूरे-पूरे सहयोगी रहे। जयाचार्य ने सदा मुनि श्री को श्रद्धा की दृष्टि से देखा। शासन-स्तम्भ, उपाध्याय सम आदि-आदि विशेषणों से उन्हें सम्बोधित किया। और वृद्धावस्था में भी चित्त समाधि रह सके, ऐसा सहयोग देते रहे। जब लाडनूं में आप स्थिरवास में थे, तब भी समय-समय उन्हें दर्शन व सेवा का मौका दिया। वि० सं० १९२५ में जब उनका स्वर्गवास हुआ, तब उनके गुणानुवाद में "स्वरूप नवरसा" नाम से उनका जीवन-चरित्र बनाया।

दूसरे भाई मुनि श्री भीमजी स्वामी, जिनका स्वर्गवास वि० सं० १८९७ में बिसाऊ (राज०) में हुआ था, उनकी गुणगाथा में भी "भीम विलास" नामक जीवन-चरित्र बनाया।

: ७३ :

अनूठा उदाहरण

गुरु गुरू रहै शिष्य-शिष्य ही, नाक भाल नहीं जावै।
भिक्षुकृत जाणी गोशालो, नहीं व्याख्यान बणावै॥

सुविनीत शिष्य वह है जो अपने आपको गुरु से अधिक न मानें व प्रत्येक बात में गुरु के कार्य को प्रमुखता दे। व्यवहार की भाषा में कहा ही जाता है—"नाक कितना ही लम्बा-चौड़ा क्यों न हो, पर ललाट से तो नीचे रहकर ही शोभा पाता है।" इसका व्यावहारिक प्रयोग जयाचार्य के जीवन में देखने को मिलता है।

जयाचार्य ने भगवती सूत्र की पद्यबद्ध टीका (जोड़) बनाई, जिसका ग्रन्थमान प्रायः अस्सी हजार के लगभग माना जाता है। उसे विभिन्न रागीनियों, हेतु व युक्तियों से सजा-संवारकर सांगोपांग बनाने का प्रयत्न किया। उस प्रयत्न में जयाचार्य पूर्ण सफल भी हुये। किन्तु पन्द्रहवें शतक—गौशालक के आख्यान की टीका उन्होंने इसलिए नहीं बनायी कि इस पर भिक्षु स्वामी का व्या-

: ७४ :

तेरापंथ के तीन पर्व

गादी महोत्सव चरम महोत्सव व माघ महोत्सव चाल्या।
ग्यारह चवदै इकवीसै थे, अनुक्रम सूं संभाल्या।।

"उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः" मानव-मन उत्सव प्रिय हुआ करता है। उसे नये-नये उत्सवों, पर्वों व महोत्सवों से मानस-तुष्टि का अनुभव होता है, इसीलिए प्रत्येक संस्कृति को सुरक्षित रखने व परिवर्धित करने हेतु नये-नये उत्सवों का सूत्रपात होता है। जयाचार्य ने भी तेरापंथ-संघ को एक बलवती प्रेरणा, सात्विक पोष व नव-नव उन्मेपों के निखार के हेतु तीन आध्यात्मिक पर्वों का प्रचलन किया। वे पर्व गादी-महोत्सव, चरम महोत्सव व माघ-महोत्सव के नाम से सुविश्रुत हैं।

(१) गादी-महोत्सव—वर्तमान आचार्य के पदारोहण-दिवस के उपलक्ष में मनाया जाता है। सर्व प्रथम वि० सं० १९११ में इन्दौर (मध्यभारत) से इसका प्रारंभ हुआ। यह पर्व आचार्य को जहां अपने आत्म-निरीक्षण व अपनी वार्षिक गतिविधि के सिंहावलोकन का अवसर देता है, वहां सारे संघ को भी प्रेरणा देता है कि हमारा संघ आचार-प्रधान है, अतः इतने बड़े साधु-

संघ में एक आचार-कुशल व्यक्ति को ही आचार्य बनाया गया, जो सारे संघ को आचार में कुशल बनाये रखे।

(२) चरम-महोत्सव—तेरापंथ प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु का स्वर्गवास वि० सं० १८६० भाद्रव शुक्ला १३ को हुआ। उसी उपलक्ष में वि० सं० १६१४ भाद्रव शुक्ला १३ को इस महोत्सव का बीदासर से प्रारंभ हुआ। उस दिन जहां उस पवित्र आत्मा की निर्भीकता, स्पष्टवादिता व सिद्धान्त-प्रियता आदि विशिष्ट गुणों से प्रेरणा पाकर श्रद्धा-भरे शब्दों में सारा संघ कृतज्ञता प्रकट करता है, वहां यह भी मान कर चलता है कि ऐसे भावितात्मा का मरण ही महोत्सव हुआ करता है।

(३) मर्यादा-महोत्सव—इसे सबसे बड़ा होने से माह महोत्सव या माघ महिने में होने से माघ-महोत्सव भी कहते हैं और यह प्रतिवर्ष माघ शुक्ला ७ को आचार्य श्री भिक्षु द्वारा लिखे गये अंतिम लेख-पत्र के उपलक्ष में मनाया जाता है। मर्यादा महोत्सव जहां संघ के विकास, अभ्युदय और गौरव-वृद्धि का निमित्त बना, वहां जयाचार्य की सूझ-बूझ व दूरदर्शिता का परिचायक भी बना।

ये तीनों ही पर्व तेरापंथ-संघ में इक्षु के पर्व (गांठ) की तरह वस्तुतः ही रस-प्रद व उत्तरोत्तर विकास के हेतु बने हुए हैं।

: ७५ :

मघजी पंडित

आगै जैतारण लारै जैतारण बीच में चालां आपा।
इण पहली रो अर्थ बतावै, तिण नै पंडित थापां॥
मघवा मुनिवर अर्थ बतायो, तिण स्यूं पंडित बाज्या।
"प्रत्यक्षेपि क्रियापदं" में, पंडित चक्कर खाज्या॥

काव्य के विविध रूप हुआ करते हैं। कुछ अंतरालापिका कहलाते हैं तो कुछ वहिरालापिका। कुछ क्रिया-गुप्त श्लोक होते हैं तो कुछ कर्म व कर्त्ता-गुप्त आदि भी। कइयों के ध्यान में यह केवल बौद्धिक व्यायाम है तो कइयों की दृष्टि में बुद्धि-विकास का साधन भी। पर यह प्रायः देखा जाता है कि इसकी शोध करने वाला तो असाधारण प्रतिभा का धनी होता ही है। जब उसका प्रतिभा-पाटव उस पहेली को सुलझा देता है, तब उसकी विद्वत्ता भी शतमुखी होकर निखर उठती है।

वि० सं० १९१३ में जयाचार्य पाली से विहार कर बीकानेर की ओर पधार रहे थे। मार्ग में "जैतारण" से विहार किया। कुछ भाई भी साथ थे। जयाचार्य आगे चले गए। जैतारण गांव पीछे रह गया। एक भाई ने पद बनाया—

"आगै जैतारण लारै जैतारण बीच में चालां आपां।
इण पहली रो अर्थ बतावै तिण नै पंडित थापां ॥"

अर्थात् आगे जैतारण है पीछे भी जैतारण है, बीच में हम चल रहे हैं। इस पहेली का जो अर्थ बतायेगा, उसे ही हम पंडित मानेंगे। सभी ने अपना-अपना बौद्धिक व्यायाम किया, पर मूल अर्थ कोई नहीं पकड़ सका। सब यहां उलझ रहे थे, आगे जैतारण कौन-सा है? जेतारण गांव तो पीछे रह गया। मघवा मुनि ने जो कि उस समय १६ वर्ष के थे, सहज ही सारा भेद खोलते हुए कहा—आगे जय-तारण अर्थात् जय महाराज तारणे वाले हैं और पीछे जैतारण गांव है। सभी ने मघवा मुनि की अनूठी प्रतिभा का लोहा माना और तब से आप पंडित के नाम से विश्रुत हो गए। आगे चलकर तो उनका यह उपनाम सही बन गया "मघजी पंडित" हैं।

भले ही देखने वालों को यह घटना साधारण-सी लगे, पर, साधारण-सी घटना में भी कभी-कभी बड़े-बड़े पंडित चक्कर खा जाया करते हैं। जैसे कहा गया—

"अम्लान पंकंजा माला, कंठे रामस्य सीतया।
बुधामुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेपि क्रियापदम् ॥"

सुन्दर फुलों की माला सीता ने राम के गले में डालीं। यहां क्रियापद है—प्रत्यक्षेपि (डाली)। पर जहां प्रत्यक्षेपि का अर्थ सामने लगा लिया जाता है, वहां पडित-लोग चक्कर खा जाया करते हैं।

: ७५ :

मघजी पंडित

आगै जैतारण लारै जैतारण बीच में चालां आपां।
इण पहली रो अर्थ बतावै, तिण नै पंडित थापां ॥
मघवा मुनिवर अर्थ बतायो, तिण स्यूं पंडित बाज्या।
"प्रत्यक्षेपि क्रियापदं" में, पंडित चक्कर खाज्या ॥

काव्य के विविध रूप हुआ करते हैं। कुछ अंतरालापिका कहलाते हैं तो कुछ बहिरालापिका। कुछ क्रिया-गुप्त श्लोक होते हैं तो कुछ कर्म व कर्त्ता-गुप्त आदि भी। कइयों के ध्यान में यह केवल बौद्धिक व्यायाम है तो कइयों की दृष्टि में बुद्धि-विकास का साधन भी। पर यह प्रायः देखा जाता है कि इसकी शोध करने वाला तो असाधारण प्रतिभा का धनी होता ही है। जब उसका प्रतिभा-पाटव उस पहेली को सुलझा देता है, तब उसकी विद्वत्ता भी शतमुखी होकर निखर उठती है।

वि० सं० १६१३ में जयाचार्य पाली से विहार कर बीकानेर की ओर पधार रहे थे। मार्ग में "जैतारण" से विहार किया। कुछ भाई भी साथ थे। जयाचार्य आगे चले गए। जैतारण गांव पीछे रह गया। एक भाई ने पद बनाया—

: ७७ :

कसौटी पर

भर परिषद् में दियो ओलम्भो, क्यूं गप्पोड़ा मारो।
सहनशीलता देख-देख कर, दंग संघ है सारो॥

एक वार की वात है, युवाचार्य श्री मघवागणी व्याख्यान में एक वात कहने में कुछ भुल गये। जयाचार्य अन्दर विराजे हुए सुन रहे थे, तत्काल उठकर आए और भरी परिषद् में ही उन्हें उलाहना देते हुए कहा—ऐसे क्या गप्पें मार रहा है।"

युवाचार्य श्री ने 'वद्धांजलि हो, अपनी गलती स्वीकार की।'

सायं जयाचार्य ने सब साधुओं के सामने कहा—'देखो, आज मघजी ने कितनी सहनशीलता दिखलाई। इतनी सहनशीलता रखने वाला ही महान् हुआ करता है। कहा भी है :—

'कसणी तो धीरा सहै कै हीरा के हेम' अर्थात् कसौटी पर धीर पुरुष, हीरा और सोना ही चढ़ा करता है, न कि काच।'

: ७८ :

मघवा मुनि की स्थिरप्रज्ञा

घोका-घोक लगाता कै, मगरा में धूल नखाई।
मघवा मुनिवर अर्ज करै म्हैं समझ्यो आँधी आई ॥

गीताकार ने स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहा है—"दुखेष्वनुद्विग्नमनाः" अर्थात् विषम परिस्थिति में भी अपना मानसिक संतुलन न खोने वाला ही स्थितप्रज्ञ है, पहुँचा हुआ साधक हैं। मघवागणी के संवन्ध में कई वार सुना कि वे स्थितप्रज्ञ थे। जव स्थितप्रज्ञता के जनक योग का स्थायित्व देखते हैं तव सारा समाधान सामने तैर आता है। एक बार मघवागणी दीवाल की ओर मुंह करे अपना पाठ रटने में व्यस्त थे। जयाचार्य ने उन्हें दूर से देखा। अपने सुयोग्य शिष्य की तल्लीनता परखने की भावना उनके मन में जागी। एक साधु को वुलाकर कहा—'आओ, धीरे से मघजी की पीठ पर एक मुट्ठी धूल ड़ाल आओ।' संत सकपकाया। उसके लिए यह कार्य अत्यन्त कठिन था। एक और जहां जयाचार्य का कठोर आदेश था, वहां दूसरी ओर युवाचार्य की पीठ में धूल डालना भी सहज कार्य नहीं था। जयाचार्य से उसकी वह दुविधा छुपी नहीं रह सकती थी, फिर भी उन्होंने अपने आदेश को कसते हुआ कहा—जाओ न, में कहता हूँ? संत गया और धीरे से एक मुट्ठी धूल मघवामुनि की पीठ पर डाल आया।

अपना पाठ समाप्त होने पर जब श्री मघवा मुनि जयाचार्य के पास आये, तब उन्होंने उनसे पूछा—'अध्ययन के समय क्या कहीं से मिट्टी आई थी?' मघवा मुनि ने कहा--'हाँ आई तो थी, पर कहाँ से आई, इसका मैंने ध्यान ही नहीं दिया और यही सोचकर उसे झटका दिया कि रेगिस्तान के इस प्रदेश में आंधियाँ तो आती ही रहती हैं।' जयाचार्य ने उनकी तल्लीनता की सराहना करते हुए कहा—"वस्तुतः मन, वचन और काया के योगों को ऐसे संबृत करने वाला ही महान् साधक हुआ करता है।

मघवा मुनि की स्थिर बुद्धि का एक चामत्कारिक उदाहरण भी देखिये। वि० सं० १६४८ में जयपुर के पंड़ित दुर्गादत्तजी को आपने सारस्वत का पूर्वार्ध अस्खलित रूप में सुनाया। मघवा मुनि की उस विलक्षण स्मृति पर आश्चर्य व्यक्त करते हुये पंडितजी ने पूछा—क्या आप इसकी परिवर्तना (चितारना) प्रतिदिन करते हैं? मघवागणी ने कहा—वि० १६२२ में पाली (मारवाड़) में एक बार जयाचार्य को सुनाया था। उसके बाद परिवर्तना करने का इन २६ वर्षों में काम नहीं पड़ा। पंडितजी और सुनने वाले सारे मुग्ध थे। वास्तव में ऐसे मुनियों को ही कौष्टक-बुद्धि कहा गया है, यानि कोठे में ड़ाले हुए धान की तरह विद्या उनके दिल में सुरक्षित रहती है।

: ७९ :

कहने-कहने में अन्तर

ओही सुण्योड़ो ओही सुण्योड़ो तब कहै जय ठरकै स्यूं।
सकृत् उत्तराध्ययन ही सुणल्यो मघजी के मूंड़े स्यूं ॥

कहा जाता हैं—"बात प्यारी नहीं, बतुआ प्यारा होता है।" बात को सरस और निरस बनाना वक्ता पर ही निर्भर है। एक बार जयाचार्य ने अपना चातुर्मास सुजानगढ़ (राज०) में बिताया। प्रातः काल का व्याख्यान युवाचार्य श्री देते थे। प्रसंग-वश युवाचार्य श्री ने श्रोताओं से पूछा—व्याख्यान में कौन-सा सूत्र सुनना चाहते हो ?

"आपकी मर्जी हो, वही सुनाइये, पर कोई नया सुनायें"—श्रावकों ने कहा।

"आचारांग सुना दूं ?"

"यह तो सुना हुआ ही है।"

"भगवती सुना दूं ?"

"यह तो सुना हुआ ही है।"

"पन्नवणा प्रारम्भ कर दूं ?"

"यह तो सुना हुआ ही है।"

जिन-जिन आगमों के लिए पूछा गया, सबके लिए यही उत्तर था, यह तो सुना हुआ ही है। आपके श्रीमुख से तो कोई नई चीज़ ही सुनना चाहते हैं।

जयाचार्य भी पास बैठ, यह सब कुछ सुन रहे थे। श्रावकों के उस कथन पर मुस्कराते हुए आपने कहा—"तुम लोगों ने तो सारे ही सूत्र सुन रखे होंगे, पर मेरी इच्छा है, तुम मघजी के मुंह से एक बार उत्तराध्ययन का व्याख्यान सुन लो।

जयाचार्य के निर्देश से उत्तराध्ययन पर व्याख्यान चलने लगा। युवाचार्य श्री के प्रतिभा-कौशल, व्याख्या-पाटव व भावों की अनूठी अभिव्यंजना से लोग चकित रह गये और उनके मुंह से सहसा निकल पड़ा—उत्तराध्ययन तो कई बार सुना, पर इस तरह का तो पहले कभी भी नहीं सुना। यदि नहीं सुनते तो धोखा रह जाता।

: ८० :

स्वाध्याय ध्यान की ओर

जीतमलजी हुआ सपूता, मघजी सा शिष्य थारै।
काम-काज स्यूं होय नचिता ध्याननिष्ठता धारै।।

जहाँ सद्गुरु की प्राप्ति सौभाग्य की प्रतीक है, वहां गुरु को भी सुयोग्य शिष्य की उपलब्धि भी कम सौभाग्य की परिचायिका नहीं होती। जब शिष्य का सारा जीवन गुरु के इंगित, प्रेरणा व मार्ग-दर्शन पर निर्भर है, वहां गुरु की भी मानसिक समाधि व पूर्ण आराधक-भाव शिष्य के साहचर्य, सेवा-भाव व समर्पण-भाव सापेक्ष हुआ करते हैं।

जयाचार्य भी मघवा मुनि जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर "गण तप्ति-विप्रमुक्त" हो गये थे। ऐसा एक सौभाग्यवान् आचार्य ही हो सकता है। उन्हें एक बार स्थानकवासी मुनि मिले। युवाचार्य श्री की कार्य-क्षमता, प्रतिभा व सेवा-भाव देखकर बोले—"जीतमलजी! तुम तो सपूते हो, मघजी जैसे तुम्हारे शिष्य हैं। तुम तो निश्चिंत हो गये। अब तो तुम्हें स्वाध्याय-ध्यान में ही अपना समय विशेष रूप से लगाना चाहिए।" जयाचार्य को भी उनके कहने में कुछ तथ्य नजर आया और अपना अधिक समय स्वाध्याय-ध्यान में ही लगाने लगे।

: ८१ :

आठ आने की अक्ल

लाडनूं जन कहै खवर नहीं किण रस्ते आवां साम्है।
जय फरमावै आठ आना की, अक्ल भी नहीं थांमै॥

व्यवहार-कुशलता के विना समझदारी की बड़ी-बड़ी वातें करने वाले भी छोटी वात पर मूर्खता कर वैठते हैं। छोटी-छोटी व्यावहारिक वातें ही मनुष्य की सभ्यता और समझदारी का प्रमाण दे देती हैं।

वि० सं० १९२२ में जयाचार्य वीदासर से विहार कर लाडनूं पधार रहे थे। लाडनूं का श्रावक-समाज जयाचार्य का स्वागत करने के लिए वीदासर की ओर चल पड़ा। बीदासर से आने के कई रास्ते थे। अतः कोई किधर चला गया और कोई किधर ही। जयाचार्य सीधे शहर में पधार गए।

श्रावक-लोग चक्कर लगाकर वापस आये। जयाचार्य से बोले—"महाराज! हम तो सामने गये, किन्तु आप दूसरे ही रास्ते पधार गए, हमें वहुत चक्कर खाना पड़ा।"

जयाचार्य—"अपनी गलती से ही चक्कर खाया तुमने। लाखों का व्यापार करने वाले तुम लोगों में आठ आने की अक्ल भी तो नहीं थी।"

"वह कैसे ?"—श्रावकों ने साश्चर्य पूछा।

"बीदासर की तरफ किसी ऊँट या आदमी को भेजकर पता लगाते तो क्या लगता ?"

"आठ आने।"

"तो बस यह आठ आने की अक्ल होती तो इतना क्यों भटकना पड़ता।"

श्रावकों ने अपने समय की चूक को मानते हुए आत्म-निरीक्षण किया।

बात साधारण है, पर उपलब्धि असाधारण है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विवेक-पूर्वक सामंजस्य बैठाने की आवश्यकता है।

: ८२ :

कितनी नीच वृत्ति

उदयराम मर भूत हुयो है लोकां तूद उठायो।
भागै भूत मार कै आगै (ओ) तुरत समझ में आयो॥

बड़े बनने की भावना व अन्य को नीचा दिखाने की भावना—ये दो दुर्गुण ऐसे हैं जो चतुर मनुष्य से भी न जाने क्या क्या अनर्थ नहीं करवा देते।

एक बार की बात है। तेरापंथ के अमर तपस्वी मुनि श्री उदयरामजी वृद्ध-वय में सुदीर्घ अनशन के बाद स्वर्गवासी हुए। उस अनूठे आत्मबल, अपूर्व साहस व अलौकिक धैर्य की चर्चा लाडनूं के जन-जन में थी। अनेकानेक व्यक्तियों के जहां यह आश्चर्य और हर्ष का विषय था, वहां कइयों के लिए वह द्वेष का कारण भी बन गया। उन्होंने उस अनशन के गौरव को नष्ट करने के लिए एक विचित्र ही चाल चली। रात के समय जंगल में एक व्यक्ति को वृक्ष पर चढा देते। वह वहां से शोर मचाता—"अरे! मैं प्यासा मरता हूँ! मैं उदयराम हूँ, मैं प्यास से व्याकुल होकर मर गया। मर कर यहां पर भूत हो गया हूँ। कोई पानी पिलाओ!" इस

प्रकार प्रतिदिन आवाज आने से लोगों के मानस में कतुहल व जिज्ञासा का होना स्वाभाविक था।

सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियों ने एक उपाय खोज निकाला। संध्या से पूर्व पचासों व्यक्ति घटना-स्थल से कुछ दूर छुप कर खड़े गये। रात की अंधियारी में ज्यों-ज्यों ही जोर-जोर से आवाजें आने लगीं—मैं प्यास से मर रहा हूँ, मैं उदयराम हूँ, कोई पानी पिलाओ, तो लोगों ने चारों ओर से उस वृक्ष पर एक साथ पत्थरों की वर्षा की। पत्थरों की अनहद बौछार से वह व्यक्ति घबरा गया और क्षत-विक्षित हो नीचे उतर आया। उसने सत्य-सत्य सारी घटना कह डाली। उसने बताया—मुझे अमुक व्यक्तियों ने धन का प्रलोभन देकर ऐसा करने के लिए तैयार किया है।

सबके सामने उसकी कलई खुल गई। मुख-मुख पर दो ही बातें थीं :—

१ उन अनर्थकारियों के काले-कारनामों की तथा २ "मार के आगे भूत भागे" के किस्से की सत्यता।

: ८३ :

यदि विधवा न होने दे

भूरां कहै विधवा न होणद्यो तो दीक्षा नहीं लेवूं।
मेहनतानो नहीं हर्ष में पावस, भण्डारीजी लेवूं ॥

वि० सं० १९२४ की बात है। लाड़नूं के एक सरावगी-जाति की भूरा नामक कन्या दीक्षार्थ तैयार हुई। बाल्यावस्था में उसका अद्‌भुत विवेक व रूप-सम्पदा जन-जन के आकर्षण का केन्द्र था। उसकी सगाई भी की हुई थी। घर वाले दीक्षा देने के लिए तैयार भी हो गये पर ससुराल वाले कुछ द्वेष-भावना लिए हुए थे, अतः जोधपुर-राज्य में अर्जी दी और राज्य से प्रार्थना की कि वे इस दीक्षा को रोकें। सरकारी-कर्मचारी परीक्षा लेने आए और कन्या से बातचीत भी की। बातचीत के बीच अधिकारियों ने पूछा—
"तुम किसी भी तरह रुक भी सकती हो ?"

भूरां ने कहा—"मैं दीक्षा न लेकर शादी करवाने के लिए तैयार हूं, पर यह जिम्मेवारी आप ले लें कि मैं कभी भी विधवा नहीं बनूंगी।"

"यह जिम्मेवारी कौन ले सकता है ?"

"क्यों ?"

"मृत्यु का क्या पता ? कब किसकी आ जाए ? क्या मृत्यु भी रोकी जा सकती है ?"

"तभी तो आत्म-साधिका बनकर मृत्युंजयी बनना चाह रही हूँ।"

सुनने वाले सारे चकित थे। अन्त में बहादुरमलजी भण्डारी के सुखद प्रयत्न से फाल्गुन कृष्णा ६ को उसकी दीक्षा सानन्द हो गई। विरोधी देखते ही रहें।

भण्डारीजी के पुत्र किशनमलजी ने जयाचार्य के दर्शन किये। वहाँ की सारी बात अर्ज की। जयाचार्य ने कहा—"भण्डारीजी का इस कार्य में भी पूरा योग रहा। इस श्रम के लिए क्या मेहनताना दिया जाए ?"

भण्डारी श्री किशनमलजी ने कहा—"पारिश्रमिक तो उसे दिया जाता है जो दूसरों का काम करे। शासन हमारा है, अतः यह हमने हमारा ही काम किया है। इसमें पारिश्रमिक देने जैसी क्या बात है ? हां इस खुशी में कुछ बक्शीस देने की मर्जी हो तो अवश्य दिरावें।"

जयाचार्य ने उनकी इस विवेकभरी प्रार्थना पर प्रसन्नता दिखाते हुये वि० सं० १९२५ का चातुर्मास जोधपुर में बिताने का वचन दिया और वह चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ।

: ८४ :

होली के छींटे

क्षमाशूर अरितहं हुवै पिण गुरु के कमती माया।
पड्यो रंग जद चन्देरी-जन, माफी मांगण आया।।

महावीर ने कहा है—अरिहंत क्षमा-शूर होते हैं। वे सर्वशक्ति-संपन्न होते हुए भी क्षमावान् होते हैं। किन्तु प्रस्तुत घटना तो हमें यह बतला रही है कि आचार्य भी समय-समय पर क्षमा का अद्-भुत परिचय देते हैं।

जयाचार्य लाडनूं में विराजमान थे। होलिकोत्सव के दिन थे। उन दिनों में लोगों का कुछ मतवालापन अधिक उभर जाया करता है। वह मतवालापन यहाँ भी छाया हुआ था। बीसों-पच्चीसों व्यक्ति अपने-अपने मुहल्ले में इकट्ठे होकर रंग व गंदा पानी एक दूसरे पर फेंक रहे थे। संयोग की बात थी, जयाचार्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर कुछ साधुओं के साथ उधर से गुजरे। लोगों ने कुछ ध्यान कम रखा, अतः रंग के कुछ छींटे उन पर भी लग गए। जयाचार्य शांत रहे। अपने स्थान पर पधार गये। जब लोगों

को भान हुआ, अपने उस कृत्य पर पछताने लगे। मन में भय था, न जाने जयाचार्य क्या कुछ कहेंगे। सकुचाते हुए वे जयाचार्य के पास आए और क्षमा-याचना करने लगे। जयाचार्य सौम्यभाव से क्षमा-मूर्ति प्रतीत हो रहे थे। उनके अनुताप के प्रतिकारार्थ बोले—"खैर! मेरे तो छींटे लग गये, उसमें कोई खास बात नहीं, पर यह त्यौहार है गन्दा, इसलिए सदा के लिए इसका प्रत्याख्यान कर दो। स्वयं ही प्रायश्चित्त हो जायेगा।" श्रावकों ने होली न खेलने की सहर्ष प्रतिज्ञा कर ली।

: ८५ :

सामुदायिक तप

पचरंग्या की प्रथा जोधपुर जय बरतार चलाई।
वायां की पचरंग्या पनरै साथै वर्ष सताई॥

धर्माराधना के कई प्रकार हैं। व्यक्ति की अपनी रुचि व तल्लीनता ही वहां कारगर हुआ करती है। फिर भी व्यक्तिगत की अपेक्षा सामुदायिक होने से वातावरण में एक प्रकार की सजगता व प्रेरकता अवश्य आ जाया करती है। आगमों में लघुसिंह निक्रीड़ित, रत्नावली, कनकावली आदि तपस्याओं के क्रम का वर्णन है। एक व्यक्ति ही उनकी आराधना में जुटता है, अतः समय और सामर्थ्य को देखकर ऐसी अपेक्षा लगी कि ऐसा कोई क्रम निकाला जाए, जिसमें अनेक व्यक्ति सम्मिलित हो सकें और वह सुख-साध्य भी हो।

'चाह को राह मिल ही जाया करती है'—जयाचार्य का वि० सं० १६२५ का चातुर्मास जोधपुर में था। उस समय तपस्या की पचरंगी की प्रथा चली। इसमें २५ व्यक्तियों की आवश्यकता रहती है। पांच व्यक्ति पांच-पांच दिन का व्रत करने वाले, पांच चार-चार दिन का, ऐसे ही पांच व्यक्ति तीन-तीन दिन का, पांच

व्यक्ति दो-दो दिन का व पांच व्यक्ति एक दिन का व्रत करके इस तप की आराधना करते हैं। इस प्रकार पच्चीस व्यक्तियों के सहयोग से एक पंचरंगी सम्पन्न हो जाती है।

आगे चलकर तो वह सतरंगी, नवरंगी, इग्यारहरंगी, तेरहरंगी तथा पन्द्रहरंगी तक चली गई। पर पंचरंगी जयाचार्य के शासन-काल में बहुत वेग से चली और वि० सं० १९२७ में ही लाडनूं में बहिनों ने एक साथ १५ पंचरंगी की।

: ८६ :

धींगा निवाज

नहीं दीना का हो, धींगा का सुण मघ नै भिजवावै।
भक्तां हित भगवान सदा ही पांव उभाणै धावै ॥

एक वार जयाचार्य लाड़नूं में थे। वहां एक बहिन ने, जो वड़ी श्रद्धालु थी, अपना जीवित मोसर किया। मोसर हो जाने के वाद कुछ मिठाई वची। उसके लिए जयाचार्य से प्रार्थना की और साथ में यह भी कहा—मेरे घर पर आप स्वयं पधारने की कृपा करें। जयाचार्य ने कुछ-कुछ आश्वासन भी दिया, पर संयोग ऐसा बना कि किसी विशेष स्थिति से आप वहां से विहार कर सुजानगढ़ पधार गए और उस वहिन का वह निवेदन भूल ही गए। उस बहिन को जव आपके विहार का पता लगा, उसे गहरा आधात पहुँचा। अपना भारी दिल लिए सन्तों के स्थान पर आई। वहां श्री मोतीजी स्वामी थे। उनके सामने अपना सारा दुःखड़ा सुनाया। मुनि श्रीमोतीजी का मन उसकी संवेदना से पसीज गये और वहां से चलकर सुजानगढ़ आये। जयाचार्य के समक्ष उस बहिन की सारी स्थिति रखते हुए कहा—"वह तो कह रही थी, महाराज तो धींगा निवाज—बड़ों के हैं। हम गरीवों को कौन पूछता है ?"

जयाचार्य तत्क्षण अपना रजोहरण लेकर वहां से उठे और लाड़नूं जाकर उस बहिन की भावना पूरी करने को उद्यत हुए। देखने वाले देखते ही रहे। लोगों ने निवेदन किया—"आप वृद्ध हैं, श्रम अधिक होगा, अतः युवाचार्य श्री को भेज दें।" जयाचार्य ने प्रार्थना को स्वीकार किया और युवाचार्य श्री को कुछ साधुओं के साथ उस बहिन को संतुष्ट करने के लिए वहां भेजा।

युवाचार्य श्री ने वहां पहुंच कर जब उस बहिन की मनोकामना पूरी की, साधारण जनों ने कुछ आश्चर्य ही व्यक्त किया, पर इसमें अचरज जैसी क्या बात थी? भगवान् तो भक्त से बंधे होते हैं। वे यदि एक भक्त के लिए नंगे पैर दौड़ पड़ें तो क्या आश्चर्य?

: ८७ :

महापुरुषों की लीला

गुरु की स्तवना सन्मुख करणी शिष्य परोक्ष प्रचारै।
पिण "सरदार सुयश" तो सन्मुख हेम नवरसो लारै॥

नीति वाक्य है—'प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः' —गुरु की स्तुति उनके प्रत्यक्ष करनी चाहिये और मित्र, बान्धव शिष्य आदि की पीठ पीछे। क्योंकि उनके सामने उनको प्रशस्ति पढ़ना उचित नहीं हुआ करता। पर जयाचार्य जैसे नीति-परायण व्यक्ति के जीवन में तो इसका विपरीत क्रम ही देखा गया। मुनि श्री हेमराजजी को उन्होंने अपना विद्या-गुरु माना और उनके उपकार-भार से दबे रहे। उनकी स्तुति में आपने 'हेमनवरसो' नामक गेय जीवन-चरित्र बनाया, पर उनके स्वर्ग-वासी हो जाने के बाद।

महासती सरदारांजी, जिनको स्वयं जयाचार्य ने प्रतिबोध दिया, ज्ञानार्जन करवाया, समय-समय पर अनवद्य मार्ग-दर्शन भी दिया और अन्त में अपने हाथों से दीक्षा दी, उनका जीवन-चरित्र 'सरदार सुयश' नामक काव्य उनके सामने ही बनाकर सुना दिया। ऐसा क्यों ? उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि महापुरुषों के कार्य अपने आप में अनूठे ढंग के ही हुआ करते हैं।

: ८८ :

वज्र से कठोर

मैं परठणा नहीं धारूं इम कहकर मुंह मचकोड्यो।
ध्यान पार जय दे ओलम्भो अशन-पान झट तोड्यो॥

अनुशासन-प्रधान संघ का कुशल अधिशास्ता अन्यान्य सारी बातें भले ही बर्दाश्त कर ले, पर अनुशासन की अवहेलना वह सह नहीं सकता। ऐसे प्रसंगों पर तो उसे वज्र से भी अधिक कठोर बनना पड़ता है।

वि० सं० १९३८ की बात है। जयाचार्य वृद्धावस्था के कारण जयपुर में थे। संघीय कार्य प्रायः युवाचार्य श्री ही निपटाते थे। जयाचार्य का अधिकांश समय आत्म-रमण की ओर ही लगता था। एक दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण प्रारम्भ था। जयाचार्य ध्यान में लीन थे। युवाचार्य श्री पास में ही विराजमान थे। एक साधु पंचमी समिति से निवृत होकर आया। युवाचार्य श्री ने उसे टोकते हुए कोमलता से कहा—"सूर्यास्त को कितना समय हो गया? इतनी देरी कैसे की? समय पर लौट आना चाहिए था। कल से ध्यान रखना। आज विलम्ब किया, इसके लिए प्रायश्चित स्वरूप पांच परिठणा (दंड विशेष) धार लो।" दंड का नाम सुनते ही उसका पारा

ऊपर चढ़ गया और अक-वक बोलने लगा—"क्या यह भी किसी के वस की बात है ? मैं दण्ड नहीं धारूँगा।" नवनीत के सदृश कोमल युवाचार्य श्री मौन हो गये।

जयाचार्य का ध्यान समाप्त हुआ तो तत्क्षण उस साधु को बुलाया। आपने उस साधु को आड़े हाथों लेते हुए कहा—"क्या कहा, दण्ड नहीं लूंगा ? क्या बच्चों का तमाशा समझ रखा है ? आज्ञा की यह अवहेलना ? बस, इसी क्षण से मैं तेरा सारा संघीय सम्बन्ध विच्छेद करता हूँ।"

वे मुनि देखते ही रह गए। काफी अनुनय-विनय किया पर जयाचार्य का एक ही उत्तर था—"आणाए मामगं धम्मं" धर्म आज्ञा में ही है। देखने वाले जयाचार्य का वज्र-दिल देखते ही रहे।

: ८९ :

फूलों से कोमल

करणी ईशरजी हद थारी, चोकी नहीं दे जाणै।
कर्‌या काम वकशीश भेद तो, जाणण वाला जाणै॥

महापुरुषों की प्रकृति 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' के समान होती है। वे वज्र से भी अधिक कठोर तथा फूलों से भी अधिक कोमल होते हैं।

जयाचार्य की प्रकृति के साथ यह सूक्ति विशेष मेल खाती है। उनकी कठोरता का उदाहरण गत प्रकरण में दिया जा चुका है। उनकी कोमल प्रकृति का भी एक सुन्दर उदाहरण है। बीदासर के मुनि श्री ईशरजी* सरल हृदय, गौरवर्ण, सुन्दर, सुकोमल और बहुत ही भव्य प्रकृति के थे। आपकी पत्नी साध्वी श्री चांदाजी की दीक्षा वि० सं० १९२६ में हो गई थी। आपको दूसरी शादी करने का नियम था, फिर भी उन्हें सहर्ष आज्ञा दे

---

* पहले बीकानेर रहते थे फिर बीदासर रहने लगे।

दी और शादी नहीं की। वि० सं० १६३० फाल्गुन कृष्णा १ को आप भी जयाचार्य के हाथों दीक्षित हुए। अत्यन्त सुकुमार व्यक्ति को संयम-पथ पर अग्रसर देखकर जयाचार्य ने एक प्रसंग पर कहा था—

"पाचमा आरा में हो ईशरजी हद कोधी खरी"

मुनि श्री ईशरजी आगे चलकर नव दीक्षितों के कुशल परिचारक और जयाचार्य की व्यावच करने वालों में अग्रणी हुए। ये जयाचार्य के अच्छे कृपापात्र सन्त थे। ऐसा सुना जाता है— जयाचार्य युवाचार्य श्री मघवाणी से बहुधा कहा करते—"मघजी! यहां बैठे-बैठे क्या करते हो? पुस्तकें तथा संतों को ले जाओ और विचरो। हमारे पास तो मुनि ईशरजी और मुनि भयाचन्दजी—ये दो संत काफी हैं। हां तो उन्ही ईशरजी स्वामी के जीवन की घटना है, जब वे दीक्षित हुए तब थोड़े ही समय बाद उनके कार्य का विभाग हुआ। चौकी का कार्य आ गया। उन्होंने संतों से पूछा— चौकी कैसे दूं? संतों ने कहा—"सारे मकानों में फिर-फिर कर देखो। जहां कहीं भी संतों के वस्त्र इधर-उधर बिखरे पड़े हों, उन्हें इकट्ठे कर एक स्थान पर रख दो। बाद में संतों से पूछो, जिस किसी का वह हो, उसे दे दो।"

मुनि श्री ईशरजी चौकी देने गये। संतों के नीचे पड़े सारे भण्डोपकरण—वस्त्र-पात्र ले आए और उनको एक जगह रख दिया।

जब संतों ने अपने-अपने वस्त्र संभाले तो उन्हें वे नहीं मिले। खोजने पर पता लगा, ईशरजी चौकी में ले गये हैं। जयाचार्य के पास शिकायत पहुँची।

जयाचार्य ने उन्हें बुलाकर ऐसे करने का कारण पूछा—जब उन्होंने कहा—मुझे तो संतों ने कहा था—नीचे पड़े सब ले आओ। जयाचार्य मन ही मन मुस्कराए और बोले तुझे चौकी देनी नहीं आती। आज से तुझे सारे कार्य-भार से मुक्त किया जाता है। देखने वाले हैरान थे। उलाहना के स्थान पर पुरस्कार, सहसा याद आया—यह तो—"मृदूनि कुमादपि" का सजीव उदाहरण है।

: ९० :

रजोहरण तो उठा लेगा ?

लालो कै नहीं माणक म्हारो बोझ उठावण जोगो।
भाखै जीत चालतो सकसी मघजी को ले ओघो॥

उभरते अंकुर को देखकर उसकी विराटता का अनुमान लगाने वाला जितना गौरव पाता है, फले-फूले वृक्ष को देखकर उसकी प्रशस्ति पढ़ने वाला उतना नहीं।

वि० सं० १९२८ की बात है। जयाचार्य जयपुर-चातुर्मास बिता-कर वापस लाडनूं की ओर पधार रहे थे। मार्ग में कुचामण आया। वहां जयपुर के कई श्रावक सेवा में थे, उनमें एक बालक श्री माणक लालजी भी थे, जो कि लाला लिछमनदासजी खारड़ (श्री माल) के छोटे भाई के लड़के थे। वे षोड़श वर्षीय थे और बहुत सुकोमल व पुन्यवान्। वे दीक्षार्थी भी थे, यह घर वालों को ज्ञात नहीं था। जयाचार्य ने अवसर देखकर, लाला लिछमनदासजी से पूछा—"लालाजी ! तुम्हारे परिवार का कोई साधु बनना चाहेगा तो उसे रोकोगे तो नहीं ?"

लालाजी ने कहा—"हमारे यहाँ कौन साधु बनने वाला है। यह माणकलाल है, यह क्या साधु बनेगा ?"

"क्यों ?" जयाचार्य ने पूछा।

"यह कोमल बहुत है। भार नहीं उठा सकेगा" - लालाजी ने कहा।

"भार न उठा सके तो न सही, ओघा तो उठा लेगा"—जयाचार्य ने कहा।

"हां ओघा (रजोहरण) तो उठा लेगा"—लालाजी ने निवेदन किया।

"हमें तो ओघा (रजोहरण) उठाकर चलने वाले की आवश्यकता है। मघजी के पीछे चाहिए, तुम्हारी इच्छा हो तो दे दो।" जयाचार्य ने कहा।

लालाजी ने आज्ञा दे दी। कुछ समय बाद अर्थात् वि० सं० १९२८ फाल्गुन शुक्ला ११ को लाडनूं में माणकलालजी का दीक्षा-संस्कार हो गया।

जयाचार्य की कही हुई वह बात तब सबके सामने आई, जब वही मुनि श्री माणकलालजी ईक्कीस वर्ष बाद वि० सं० १९४९ में मघवागणी के उत्तराधिकारी के रूप में तेरापंथ के छठे आचार्य बने।

इस सारी घटना को 'मघवा सुयश' में इस प्रकार अंकित किया गया है।—

रजोहरण खाँधे करी लालाजी चालाणी आवे जगीस, लारै चाहिजे मघवा तणै, भार लायक हुवै कोशीश। रूप में रूड़ो अति पुण्यनो पूरो, नंदन थारो लालाजी अनुमति दीजे जरूर (मघवा सुयश) १०-१३

: ९१ :

एक युक्ति

धर्म' धिगाणै नहीं होवे, यूं मानव सभी सुणावै।
ल्या शकुनारो ढोंग, दूलजी, प्रभु पावस करवावै॥

जो कार्य बल से नहीं साधे जा सकते, कभी-कभी वे युक्ति से साधे जा सकते हैं। वि० सं० १९३२ और १९३३ के दो चातुर्मास लाड़नूं में बिता कर वि० सं० १९३४ का चातुर्मास सुजानगढ़ करने के लिय जयाचार्य ने निर्णय लिया। लाड़नूं के श्रावकों ने प्रार्थना की—देव! आपका शरीर जरा-जर्जर है और रूग्ण भी, अतः इस चातुर्मास का अवसर हमें ही पुनः प्रदान करें। पर जयाचार्य की इच्छा सुजानगढ़ की ही थी, अतः वहां से विहार कर दिया। लाड़नूँ के श्रावक दुलीचन्दजी दूगड़ जो कि दृढ़निष्ठ श्रावक थे, उन्हें यह आधात अनुभव हुआ। उन्होंने सोचा, प्रार्थना तो जयाचार्य ने स्वीकार की नहीं और बल-प्रयोग यहां चल नहीं सकेगा, अतः युक्ति-प्रयोग करना चाहिए।

जयाचार्य का ग्रह-गोचर और शकुनों में बहुत विश्वास था। जब आप विहार करने लगे, उससे कुछ पूर्व दुलीचन्दजी ने एक व्यक्ति को वृक्ष पर चढ़ा दिया। जब जयाचार्य उस वृक्ष के पास से

गुजरे और कुछ कदम ही आगे बढ़े, पीछे से आवाज आई—"अरे जाने वाले राही आजा रे आजा, मत जा, आगे मत जा।"

जयाचार्य ने पैर रोके। सोचा शकुन अच्छे नहीं हैं। कुछ देर रूक कर फिर चलने लगे। पुनः वही आवाज आई। दुलीचन्दजी दूगड़ साथ ही थे।

जयाचार्य ने कहा—"अपशकुन हो रहे हैं?"

दुलीचन्दजी ने कहा—"हां महाराज! बहुत बड़े अपशकुन हैं।"

रुक कर जब पुनः चलने लगे; फिर भी वही आवाज आई। जयाचार्य ने कहा—"क्या करें, शकुन नहीं हो रहे हैं।"

दुलीचन्दजी ने कहा—"जैसी आपकी मर्जी। पर अपशकुनों में तो नहीं जाना चाहिए।"

जयाचार्य लाडनूं लौट आए। वि० सं० १६३४ का चातुर्मास वहीं हुआ। चातुर्मास आरम्भ हो जाने के बाद दुलीचन्दजी ने बात का रहस्य खोला और जयाचार्य को निवेदन किया। जयाचार्य ने मुस्कराते हुए कहा—"तब तो तुम्हारा भक्ति-प्रयोग नहीं अपितु युक्ति-प्रयोग काम कर गया।"

: ९२ :

आंख और साख

प्रण को मोह हुवै मोटां कै प्राण मोह नहीं ल्यावै।
छतां आंख में शस्त्र ऊठणो जद छांटां आज्यावै॥

साधना के क्षेत्र में आत्मा का महत्व होता है, शरीर का नहीं। व्रत-लाभ ही जीवन की कसौटी होती है, शरीर-लाभ या शरीर क्षति नहीं। छोटे से छोटे नियम की रक्षा के लिए भी यदि समस्त शरीर या किसी अंग की कुर्बानी करनी हो तो वह भी वहां क्षम्य एवं आदर्श मानी जाती है।

संवत् १९२७ में जयाचार्य ने बीदासर में आंख का आप्रेशन (कारी) करवाया। करने वाले भी कोई डाक्टर नहीं किन्तु एक साधु मुनि श्री कालूजी थे। आकाश में बादल छाए होने के कारण कुछ अंधेरा पड़ रहा था। आचार्यवर बाहर खुले में ही थे। ज्योंही मुनि श्री ने आंख में अस्त्र डाला कि आकाश से पानी की छोटी-छोटी बून्दे गिरने लगीं। तत्काल आचार्य वर उठे और आंख में अस्त्र होते हुए भी अन्दर पधार गए। वर्षा में न ठहरने का मुनि-व्रत जो था।

देखने वाले चकित थे कि आचार्य श्री यह क्या कर रहे हैं ? पर उन्होंने वही किया जो एक महान् आचार्य के आदर्श के अनुरूप था। उनकी दृष्टि में—आंख और साख (नियम) के बीच 'साख' का ही महत्व था, आंख गौण थी।

यद्यपि इस कारण से आंख की कमजोरी जरूर रह गई थी किन्तु व्रत की तेजस्विता के समक्ष वह सूर्य के सामने जुगनू की तरह नगण्य थी।

: ९३ :

इनके क्या बांटना है ?

गंडकड़ा नै देख झगड़ता संता नै चेतावै।
शिक्षा देवण शिक्षक नर, हर माध्यम नै अपनावै ।।

जयाचार्य सुजानगढ़ (राजस्थान) में थे। बाजार की दुकानों के ऊपर एक कमरे में ठहरे हुए, स्वाध्याय, ध्यान व साहित्य-साधना में रत थे। बाजार में इधर-उधर के मुहल्लों से कुछ कुत्ते आकर झगड़ने लगे। भौंकने की कर्ण-कटु आवाज से कार्य में विघ्न होने लगा। जयाचार्य ने इस निरर्थक कलह की ओर संकेत करते हुये सन्तों से कहा—

नहीं ज्ञान अरु ध्यान, काम काज पण को नहीं ।
ते कुक्कर सम जान, फिरे चरै कलहो करै ।।

ये कुत्ते व्यर्थ इधर-उधर भटकते रहते हैं। रोटियाँ मुफ्त में मिल जाती हैं। न तो इनके कोई काम है और न ही ज्ञान-ध्यान की चर्चा। परस्पर झगड़े नहीं तो क्या करें? वे व्यक्ति भी मुझे ऐसे ही लगते हैं, जिनके न तो ज्ञान-ध्यान है और न ही अन्य कार्य। उनके तो तीन ही कार्य हैं—दरदर भटकना, मुफ्त की रोटियाँ खाना और व्यर्थ का कलह करना।

: ९४ :

गुरु बहुत हैं, पर चेले कहाँ ?

घर में दीप जलाणै पर, मन्दिर की वारी आवै ।
देकर खुद नैं शिक्षा जयगणि सन्तां नै चेतावै ॥

महाकवि अकबर ने कहा है—

"लीडरों की धूम है और फोंलोअर कोई नहीं ।
सव तो जनरल हैं यहां, आखिर सिपाई कौन है ?"

आज के युग का सबसे वड़ा रोग है—मार्गदर्शकों की भरमार, पर उस मार्ग पर चलने वाले कितने हैं ?

महापुरुषों का जीवन-व्यवहार ठीक इससे उलटा होता है। वे अपने को कसकर ओरों को शिक्षा दिया करते हैं। प्रयोग की भूमिका वताते हुए कहा जाता है घर में दीपक कर लेने के वाद ही देव-मन्दिर में दीपक की ज्योति होती हैं ।

जयाचार्य के जीवन से भी यही सूत्र स्फूर्त होता है। समय-समय पर उन्होंने चतुर्विध संघ को वहुत ही अमूल्य शिक्षायें दीं। वहुत संभव है, किसी को वे वहुत ही मधुर और किसी को कटुक से भी कटु प्रतीत हुई हों, किन्तु जो उन्होंने शिक्षायें दीं, पहले

उन्होंने उन्हें अपने जीवन में मूर्त-रूप दिया। शिक्षा के वे पद इस प्रकार हैं :—

१. जीता जनम सुधार, तप जप कर तन ताइये।
खिण में हुवै तन छार, दिन थोड़ां में देखजे ॥

२. जीता निज दुख जोय, कुण कुण कष्टज भोग्या।
अब दिल में अवलोय, ज्यूं सुख लहिये सासता ॥

३. स्नेहराग संताप, जीता निश्चय जान जे।
सम भावे चित थाप, अप सुख[1] दुख बहुला अख्या ॥

४. स्तुती जस परसंस, हियड़ै सुण नवि हरखिये!
अवगुण द्वेष न अंस, सुण तूँ जय निज सीखड़ी ॥

५. क्रोध अगन उपसंत, खिम्या चित्त धारै खरी।
धीर गंभीर धरंत, कठिन वचन नवि काढ़िये ॥

६. जय सागर सम जान, महिमागर मुनिवर सही।
अखिल परंपर आण[2], अल्प दिवस में अचल सुख ॥

७. वैरी मान बिखेर, जय नरमाई गुण जपै।
हिवड़ै पर-गुण हेर, निज अवगुण सुण निंद मा[3] ॥

८. जय निज आदि सु जोय, विविध पणै तूं दुख बहयो।
अल्प कठिन[4] अवलोय, कोपै तूं किण कारणै ॥

९. जय खिम्या वर रोप, वचन सुमति वगतर प्रवर।
अधिक गुणागर ओप, आतम गढ़ आराधिये ॥

१०, भू सम जय गंभीर, निष्प्रकंप मंदर निधि।
हेरै निज गुण हीर, ध्यान सुधारस ध्याय नै ॥

११. धर धन्नो चित धीर, अल्पकाल आराधियो।
तूं पिण धर तप तीर, सखरी सुग जय सोखड़ी ॥

१२. उलझ्यो काल अनाद, अंतर जय गुण अत्र लखो।
प्रवर प्रशांत प्रसाध, धुर खिम्या घर खांत सूँ ॥

१३. चतुराई चित चिंत, सुध निज कारज साधिये।
मतकर बीजो मित[5], आत्म मित जय अचल कर ॥

१४. जय अंतिम जगदीस[6], कुण कुण तप अघ क्षय किया।
धर्म खिम्या धारीस, अंवर तन न सके अदर[7] ॥

कठिन शब्दों के अर्थ :—

[1]थोड़ा सुख, [2]पूर्ण रूपेण शास्त्र की आज्ञा, [3]निंदा मत करो, [4]थोड़ी कठिनाई, [5]मित्र, [6]भगवान् महावीर [7]दूसरा शरीर नहीं धारण कर सकता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

: ९५ :

अन्त तक घूमे

पेट्या मिलता जय सुख पाल, उठावणियानैं सुख स्यूं।
लाडनूं स्यूं जय जयपुर पहुंच्या, सुण्यो बड़ां कै मुख स्यूं॥

जैन मुनि की चर्या घुमक्कड़ की होती हैं, अतः वे पाद-विहारी होते हैं। अवस्था-विशेष में चलने की शक्ति न होने पर उनका एक जगह स्थिरवास भी रह सकता है। किन्तु एक जगह रहना उन्हें इतना रुचिकर प्रतीत नहीं होता।

जयाचार्य नव वर्ष की लघु-वय में दीक्षित हुए और अठहत्तर वर्ष की वय तक विहार करते रहे। जब अधिक वयोवृद्ध हो गये तो दो-दो वर्ष, तीन-तीन वर्ष एक गांव में भी रहे। ऐसा होते हुए भी उनकी इच्छा विहार की ही रही। अन्तिम वर्ष वि० सं० १९३७ में जयपुर पधारे।

कपड़े का एक सुखपाल (ड़ोली) बनाया गया—जयाचार्य उसमें विराजते। संत उसे अपने कन्धों पर उठाकर विहार करते। जयाचार्य जयपुर पधारे और अंतिम चातुर्मास वि० सं० १९३७ का वहां किया।

सुखपाल उठाने वाले संत यद्यपि सेवा-भाव व निर्जरा-भाव से ही चलते थे, पर उनका उत्साह बढ़ाने के लिए जयाचार्य उन्हें पेटिया (विभाग से पूर्व आहार) देते।

: ९६ :

खींचातानी क्यों ?

जसु तीखो उपयोग हुवै, मुख मुखपति जो न लगावै।
म्हारै किंचित ताण नहीं है, झगड़ो मूल मिटावै॥

साधारण व असाधरण मानव व्यक्ति विवाद में एक विशेष अन्तर होता है। साधारण व्यक्ति विवाद में पड़कर हर एक बात को उलझा देता है और असाधारण व्यक्ति उलझी हुई जटिलतम समस्या को भी सुलझा देता है।

वि० सं० १९३३ को अजीमगढ़ (मुर्शिदाबाद) के निवासी मूर्तिपूजक श्रावकों के कुछ प्रश्न आए। वे ५२ दोहों में थे। जयाचार्य ने उन प्रश्नों का उत्तर पद्य-बद्ध दिया। पन्द्रह सौ दोहों में बने उस ग्रन्थ का नाम "प्रश्नोत्तर तत्व बोध" है। उसमें जहां जयाचार्य के तिहोतर वर्षीय जीवन के अनुभवों का निचोड़ है, वहां जयाचार्य की अनाग्रह वृत्ति, जो हर एक पहलू को पैनी दृष्टि से निरख-परख कर ही ग्रहण करती थी, का भी सुन्दर उदाहरण है। उनके सामने एक प्रश्न आया—मुखपति मुंह पर बांधनी चाहिए या नहीं ? प्रश्न आकार में तो बहुत ही छोटा है, पर बहुत ही गहरा है। स्थानकवासी और तेरापंथी साधु मुखवस्त्रिका बांधे हुए

रहते हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति का यही अनुमान लगता है कि जयाचार्य उत्तर देंगे, मुंहपति बांधनी ही चाहिए, पर जयाचार्य ने उपयोगिता-अनुयोगिता सिद्ध करते हुए उत्तर दिया—

"कर राखै मुख-वस्त्रिका जसु तीखो उपयोग।
तो पिण नहीं अटकाव तसु नही मुज खंच प्रयोग॥
"तीखो नहीं उपयोग तसु जतना काज सुजोय।
मुख वांधै मुख-वस्त्रिका तो पिण दोष न कोय * ॥"

यदि किसी मुनि का निर्मल उपयोग हो और वह मुख-वस्त्रिका अपने हाथ में रखे तो कोई आपत्ति नहीं है और न ही कोई आग्रह है।

वैसे ही यदि किसी का उपयोग इतना निर्मल न हो और वह जीवों की यतना के लिए अपने मुख पर हर समय मुखपति बांधता है तो उसमें भी कोई दोष नहीं है। पर एक पक्षीय आग्रह नहीं होना चाहिए।

---

* प्रश्नोत्तर तत्वबोध, मुखवस्त्रिका अधिकार

: ९७ :

स्वाध्यायं कुरु

लाख छियासी सड़सठ सहस च्यारसो ऊपर जाणो।
आगम को स्वाध्याय आठ वर्षां में सर्व पिछाणो॥

भगवान् महावीर ने कहा है, तीन कारणों से देव पश्चात्ताप करते हैं। मनुष्य जन्म पाया, पर संयमी न बन सका। संयमी तो बना, पर संयम दीर्घ काल तक नहीं पाल सका। संयम का तो दीर्घकाल तक पालन किया, पर स्वाध्याय-ध्यान में लीन न हो सका। जयाचार्य ने संयम भी लिया, उसका चिर काल तक पालन भी किया और आगम का स्वाध्याय भी अपने जीवन में बहुत किया।

जयाचार्य का सारा जीवन ही आगमिक स्वाध्यायमय था। फिर भी उसका स्वल्प-सा निदर्शन भी बहुत प्रेरक है। वि० सं० १९३० के आश्विन शुक्ला ११ से वि० सं० १९३८ श्रावण शुक्ला १ तक लगभग ८ वर्षों में आगम का स्वाध्याय—छियासी लाख सड़सठ हजार चार सौ (८६, ६७, ४००) पद्यों के रूप में हुआ।

: १८ :

महाप्रयाण

"अड़तीस भाद्रव वदि बारस, कर अनशन गणराजा।
महाप्रयाण कियो जय स्वामी जय नगरी गुण जाझा॥"
"मंडी खंड इकावन, बैठा अजमेरी दरवाजै।
दाह-क्रिया सिरदार बगीचै श्रद्धालु जनसाझै॥"

किसी कवि ने कहा है—

हंस के मरा कोई कोई रोके मरा।
जिंदगी पाई मगर उसने जो कुछ होके मरा॥

साधना की सफलता समाधि-मरण पर अवलंबित है। जयाचार्य ने अनशनपूर्वक वि० सं० १९३८ भाद्रव कृष्णा १२ को जयपुर में महाप्रस्थान किया।

शोभा-यात्रा के लिए इक्कावन कलसों के विमान में आचार्य श्री के शरीर को बैठाया गया और शहर के सुप्रसिद्ध अजमेरी दरवाजे से होकर रामनिवास बाग के पास सरदारमलजी लूणिया के बगीचे में अंतिम-संस्कार किया गया। वहां संगमरमर में बनी छत्री उस सारे इतिवृत्त को अपने-आप में समेटे आज भी म्युजियम के पास खड़ी है।

विशेष वर्णन परिशिष्ट ३ में देखो

: ९९ :

मरूधरा के तीन रत्न

नरवंका मरुधर का तीन आचारज भैक्षव गण में।
भिक्षु, जय, तुलसी, की महिमा गूँज रही जन-जन में ।।

राजस्थानी कहावत है—

झाड़ी वंको झावुवो वचन वंको कुशलेश।
नार वंकी पुंगलतणी नरवंको मरूधर देश ।।

झाड़ियों में झावुवा, वचन पालने में कुशलेश तथा स्त्रियों में पुंगल की स्त्री श्रेष्ठ होती हैं वैसे ही मारवाड़ के मनुष्य वहुत ही श्रेष्ठ होते हैं।

तेरापंथ संघ का प्रत्येक व्यक्ति इसकी सत्यता से सुपरिचित है; क्योंकि नव अधिनायकों में से तीन अधिनायक मारवाड़ के थे; वे हैं जिन्होंने अपने कुशल कर्तृत्व, व्यक्तित्व व अनूठी कार्य-प्रणाली से संघ के गौरव में चार चांद लगाये। श्रीमद् भिक्षु स्वामी के क्रांतिकारी परिवर्तनों का मूर्त रूप तेरापंथ संघ है। जयाचार्य के जीवन-संवंध में तो ये पंक्तियां हैं ही वर्तमान आचार्य श्री तुलसी का विराट् व्यक्तित्व आज जन-जन के आकर्षण का केन्द्र वना हुआ है।

: १०० :

प्रशस्ति

दो हजार चवदै चन्देरी दूज फुलरिया आई
"सन्त छत्र" तन मन हर्षाई जय-सौरभ महकाई ॥

श्रीमद् जयाचार्य के जीवन-प्रसंगों का यह लघु संकलन जय-सौरभ के नाम से वि० सं० २०१४ की फुलरिया दूज (फाल्गुन शुक्ला २) को लाडनूँ में संपन्न किया व उन्हीं दिनों मुनि श्री सोहनलालजी ने पूर्ण आत्मीय भाव से मेरा पथ प्रशस्त करने के लिए उसकी लघु टीका लिखी। यह उसी का परिवर्तित और परिवर्धित रूप है, जिसकी पूर्ति वि० सं० २०२१ की कार्तिक शुक्ला ५ (ज्ञान पंचमी) तदनुसार दिनांक ६ नवम्बर १९६४ सोमवार को रायसिंहनगर (राजस्थान) में श्री मंगलचन्द थानमल सुराना के यहां सकुशल वर्षावास विताते हुई।
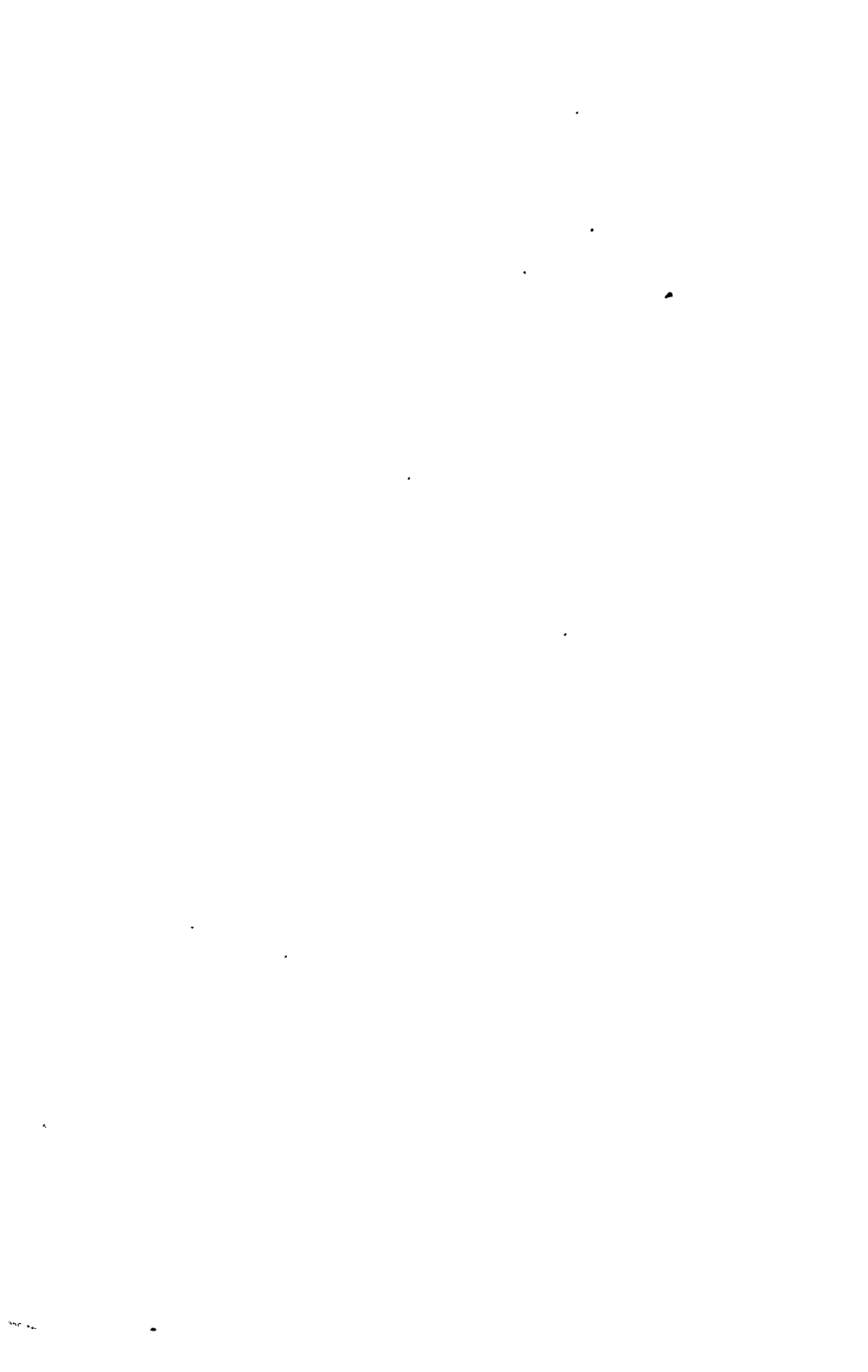
परिशिष्ट नं० १

(मूल पद)

दोहा
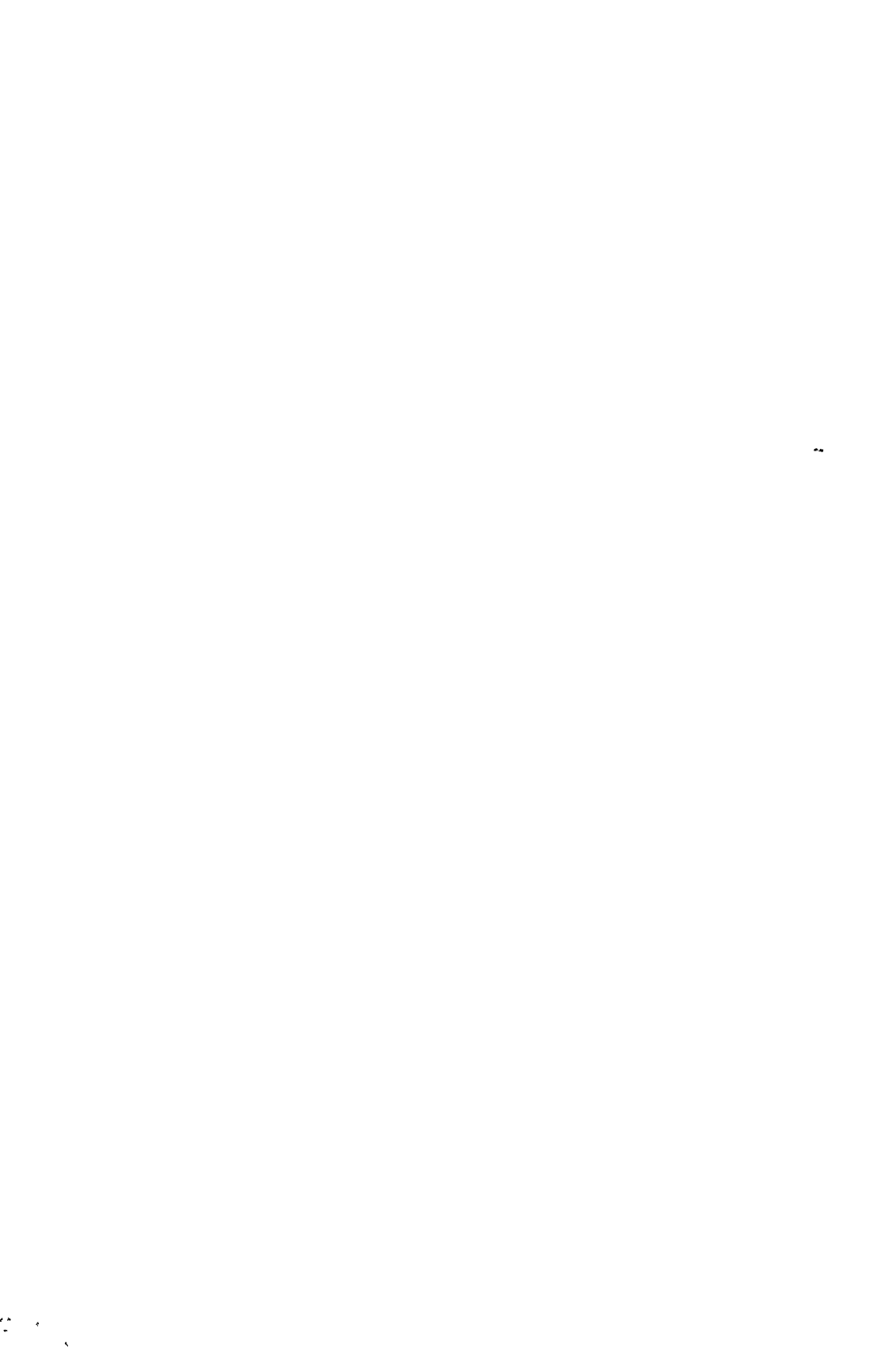
जय जय जिन-शासन धणी, जय जय जय महाराज।
जुगां जुगां रहसी ऋणी, थारो जैन समाज ।।

जय सौरभ को जिन सात लयों में गाया जा सकता है, उसके ध्रुव पद सहित मूल पद निम्न हैं:—

१. लय—छल्लै की........

ध्रुवपद—जय महाराज की, जावां बार बार बलिहारी
शासन ताज की, वातां सारी इचरज कारी
गण शिर ताज की, मथुरा तीन लोक स्यूं न्यारी।

२. लय—रस से लड़िया........

ध्रुवपद—गावां जी गावां गावां म्हें महिमा जय महाराज की
जावांजी जावां, जावां बलिहारी शासन ताज की।

३. लय—मैं चाकर थांको जी........

ध्रुवपद—बलिहारी जावांजी,
बलिहारी जावां गुण गावां वातां इचरजकारी,
जयाचार्य की मथुरा सचमुच तीन लोक स्यूं न्यारी।

४. लय—रूठोड़ा शिव शंकर म्हारै घरे पधारोजी..................

ध्रुवपद—जय-सौरभ महकावांजी,

जयाचार्य की महिमा को कोई पार न पावांजी।

५. लय—दुनियां राम नाम नहीं जाण्यो। दुनियां झामर......

ध्रुवपद—देखो जैन धर्म की ज्योति जगमग जय महाराज जगाई,

कैसी कैसी सुन्दर सड़कां देखो जय महाराज जमाई।

६. लय—मन्दिर में कांई ढूढ़ती फिरै...........

ध्रुवपद—वढ़ाई शोभा शासन की घणी

दिन दूणी जय महाराज। व० अै तो तारण तरण जहाज।

७. लय—हवा में उड़ता जाए...........

ध्रुवपद—है वातां अचरज कारी, जयकारी जय गण स्वामी की

सुण सुण है विस्मय भारी, गहरी गरिमा गुण धामी की।

× × × ×

मूल पद

अष्टादस साठे रोयट में, आइदान घर आयो।
श्री भिक्षु के पछै जनम लियो, इम कही भाग्य सरायो ॥१॥
मरणासन्न देख "अजवू", वरजण रा त्याग कराया।
लाखां रै भागां रा खांच्या, शीघ्र निरुजता पाया ॥२॥
राठां कै वसकै स्यूं, प्राण गया है पितृप्रवर का।
तीन वन्धुओं में हा छोटा, नरवंका मरुधर का ॥३॥
पूर्व जन्म का संस्कार, नर में संस्कार जगावै।
अव कल्पूं या नहीं कल्पूं, इम पूछै जय भल भावै ॥४॥

दिल्ली में पग रेख देखकर, छेक एक चकरायो।
ओ महाराजा पाँव उभाणै, इण रस्तै कुण आयो ॥५॥
द्यूं पच्चास हजार नगद, बीबी स्यूं करूं संगाई।
(पण) पुरस्योड़ी थाली ठुकरावै, है उणरी अधिकाई ॥६॥
दीक्षा समये ऋषीराय नैं, भारमल्ल फरमावै।
म्हांरै तो तू है ही; अब तो, तूं जा थारै चावै ॥७॥
बावन गजा थे बावन गजा ही, रह्या हेम पोशालै।
अक्षर बिन मार्यां बांध्यां ही, हेम संघाते चालै ॥८॥
बारै वर्ष स्यूँ आम फल्यो. बाई हद खुशी मनावै।
एक भीमड़ो लोह लाट है, इम कही हेम सरावै ॥९॥
वैरी घाव सरावै उण में, हैं सचमुच अधिकाई।
नाटक नहिं निरखण स्यूं, सौ वर्षां की नींव बताई ॥१०॥
रंग्योड़ी इक देख पातरी, दीपां मार्‍यो तानों।
उण तानै स्यूँ प्रेरित होकर, भर दियो ज्ञान खजानों ॥११॥
इग्यारह वर्षों को मुनि, के समझै कवितारै मांही।
रची संत गुण माला तिन वय, आ थांरी अधिकाई ॥१२॥
अष्टादश वर्षां पन्नवणा, पूरी पढ़ी न जावैं।
जय इण वय में पन्नवणा की, सुन्दर जोड़ बणावै ॥१३॥
सूत्र भगवती सीखणरी जद, गुरु स्यूँ आज्ञा चावै।
थांरै तो सीख्योड़ी ही है, गणनायक फरमावै ॥१४॥
पांच वर्ष में जोड़ भगवई, लिखीजणी पण दोरी।
पांच वर्ष में भगवई केरी, जोड़ अजोड़ी जोड़ी ॥१५॥

सांरस्वत नैं रात्रि, समय सुण दोहा मांहि ढ़ारै।
पूछ्यां कहता, व्याकरणी, मघजी है पंडित म्हारै ॥१६॥
पहलो छठो ग्यारह सोलम, गाथा मुख दे देकर।
निशि में जोड़ बणाता जय, इम इचरज आवै सुणकर ॥१७॥
सार्द्ध त्रिलक्ष आसरै रुचिकर, रचना आप रचाई।
मणि-कांचन संयोग देखकर, मनुज रह्या हरसाई ॥१८॥
भक्ति में साचा भक्तां नें, कष्ट न कष्ट लखावै।
पूर्ण अभिग्रह पांच विगय, को तेरह मासां थावै ॥१९॥
नीतिकार "पड़दै ही आछ्यां, भोजन भजन बतावै।"
पांचां को हाको फूट्यां, काचा-काचा खिरज्यावै ॥२०॥
देख नाम दो कहै सुगुरु नैं, एकही नाम रखावै।
वालक की भी उचित बात पर, गणपति गौर करावै ॥२१॥
एक वार ठोकर लाग्यां, झटपट चेतो हो ज्यावै।
अव जवानसिंह जय मुनिवर ने, लुल-लुल शीश नमावै ॥२२॥
झाड़ी बंकै गहन "झावुअै", चालै गणपति सागै।
रींछ देखकर गुरु-भक्ति वश, झटपट आया आगै ॥२३॥
विद्या गुरु हित च्यार आ र रां, जय नैं त्याग कराया।
"ब्रह्मचारीजी के घारूँ", यूं कहता हेम मुनि आया ॥२४॥
दिवस पंचदश हरस सरस वश, कर्या आछ आगारै।
पटलावद में वरस चौरासी, खासी हिम्मत धारै ॥२५॥
वावन जण सह मालिराम नैं, जय मुनिवर समझाया।
साधर्मी पहिचान मोखजी नैं, झटपट छुड़वाया ॥२६॥

बुद्धिमान झूठै झगड़ै में, व्यर्थ न समय गमावै।
आगम तीन तरह का माना, सुन सुन जन चकरावै ॥२७॥
आचारज हाजिर जवाबी, सचमुच होणो चावै।
भंगी को कलदर खरो, मिथ्यात्वी किया बतावै ॥२८॥
एक वर्ष में कोश सातसै, विचर्यां उग्र विहारीं।
दिल्ली उदयपुर सोरठ कच्छ हो, मरूस्थली नें तारी ॥२९॥
धक्कै धक्कै कही आपने, सारै शहर फिराया।
भेद खुल्यो जद पगां पड्या है, बारंबार खमाया ॥३०॥
कोदरजी अरजी कर साग्रह, छट्ठ छट्ठ तपधारी।
छः संता की अशन-पान की, सारी सेवा सारी ॥३१॥
और वात को सागो निभज्या, मरणै को के सागो।
सेर आर कर कोदर कर दियो, अणसणधर अनुरागो ॥३२॥
है यदि गुण तो गुण-ग्राहक भी, देखो मिल ही जावै।
दूर स्थित पिण श्री जय मुनिवर, युवाचार्य पद पावै ॥३३॥
पूजा हुअै जिहां नारी की, वहां देव को वासो।
सिरदारां में लोक कथन, ओ मिलियो खासो खासो ॥३४॥
भाग्यवती पहिचान सती नैं, स्वयं लूँचिता कर दी।
गण प्रबन्ध में बनी सहायक, निवड़ी केवल फजड़ी ॥३५॥
महापुरुष भी समय समय पर, लोक कथन अपनावै।
थे सन्तीज्यो गोलेछां कै, गोद गोलछो जावै ॥३६॥
लिखकर गुरु वकसीसां दी, सन्ता नै छोटी मोटी।
जीतमल्ल है सारां की ही, थांरै कर में चोटी ॥३७॥

कंठा ज्ञान राख केई आगम, घर सूत्र विसार्या।
"हेम" कनै स्यूं आ ही सोच, भिक्षु दृष्टान्त उतार्या ॥३८॥
कलाकार नर प्राय विनोदी, देखण मांहे आवै।
सुगुरु तेल में गर्क रहे, इम कहता नहीं सकुचावै ॥३९॥
नव ढ़ालां स्यूं अधिक न करणी, राय ऋषि फरमावै।
विन्दु को सिन्धु कर थाप्यो, इम कहि कहि विरुदावै ॥४०॥
हित की बात कहै द्वेषी तो ही, तुरत मानणीं चावै।
एक सन्त के वरज्यां, सूरपन्नत्ति वंच करावै ॥४१॥
करण जैन पंचांग बडेरा, कोई हाथ न घाल्यो।
थांरै के करणो सुण छोड़्यो, पिण आग्रह नहीं झाल्यो ॥४२॥
देख तपत वीदासर जन कहै, कोइयक गली निकालो।
भाखै जीत गली काढ़ण को, ह्वै हाली कै ढ़ालो ॥४३॥
समझदार नर समय देखकर, ठीक निशाणों मारै।
ओसवाल रै घर जीम्योड़ी, घर में आवै थांरै ॥४४॥
बालक होवै वादशाह, नहीं दिल में ह्वै कपटाई।
बात कह्योड़ी झूठ न निवड़ै, इम सुणनै में आई ॥४५॥
मघजी स्वामी करूं वंदना, मघजी कहै भाईजी।
थारै पातरै ठंढ़ो पाणी, (तूं) बैठो बैठो पो ॥४६॥
पुण्यवान् पहचान जीत मुनि, दीक्षा तुरत दिराई।
रावलिया में पूज्यपाद पै, छींक तीन तब आई ॥४७॥
योगां की चंचलता मेटण, आला मांय विठाई।
राख लगा कई वार व्यार कियो, आव गुलाव सवाई ॥४८॥

तूर्य पाट गह घाट आठ की, माघ पूर्णिमा आई।
बीदाणै में जय गणिवर की, कीर्ति-ध्वजा फहराई ॥४९॥
आप बैठे क्यूं पाट बिराज्या, संत औलमो देवै।
अब ही ल्यो चादर ओढ़ाद्यो, जयगणि हंसकर कहवै ॥५०॥
बांचत बांचत भक्तां नै, भगवान् स्वयं बंध ज्यावै।
पहलो पावस कर कर जयपुर, श्रीमुख कही निभावै ॥५१॥
व्याह बनोरा खातां खातां, की संयम की त्यारी।
दो गुन्दक सम सतीदास की, दोरी लागो भारी ॥५२॥
उचित बात चाहे हो बालक की, उत्तम नहीं ठुकरावै।
बालक मुनि कै कह्यां मघवा मुनि, सिरैपंच पद पावै ॥५३॥
मर्यादा पुरुषोत्तम मर्यादावाँ, विविध बनाई।
संघ नगर में सुन्दर-सुन्दर, सड़कां खूब जमाई ॥५४॥
कार्य भार क्रम वार, अशन में, सम विभाग बरतायो।
रस की लोलूपता मेटण ने, "टहुको" आप बणायो ॥५५॥
चेला म्हांरा पोथ्यां थारी, अै क्यूं भार उठावै।
और रासतो नहीं देखकर, संघ शरण में आवै ॥५६॥
अलग-अलग कर सोच्या सारा, सबको योग मिलायो।
प्रजातन्त्र और एकतन्त्र में, मध्यम पथ दिखलायो ॥५७॥
राजनगर बासी श्रावक कहे, पउधारो इण वेला।
नहीं तो भिक्षु भारी स्वर्ग में, भारी औलंभो दैला ॥५८॥
तुलसी की माला लै, मालववासी अरज गुजारै।
माला धरावो प्यास बुझावो, प्रभु विनती स्वीकारै ॥५९॥

'उचित्त हाजरी बैठ सुणे तो, देख स्वप्न सुखकारी।
उभा उभा सुणता नै, वैसाण्या लाभ विचारी ॥६०॥
ऋषभदास ने कह्यो आप, अब संत ठीक है सारा।
संभूड़ा समझा लीजै सब, कोल ऊंदरा थांरा ॥६१॥
भाषा समिती में तेरह पंथी, न पकड़ में आवै।
व्यवहारे म्हें साधु समझा, सुण-सुण जन चकरावै ॥६२॥
जीमण का कर त्याग मातजी, मोखम नै समझायो।
उचित्त समय पर महाराणा, को सुभ संदेश सुनायो ॥६३॥
उत्कृष्टो तप छः मासी, को सदा सुणाता आया।
छव मास्याँ का कई पारणा, कई वार करवाया ॥६४॥
बीकानेरी मिश्री सम, आचारज होणा चावै।
चोट सह्यां पाली वाला नै, पावस खुद बगसावै ॥६५॥
कुंभकार अन्दर रक्षाकर, ऊपर चोट लगावै।
मोतीड़ो तो रंग रंगीलो, कांटो नहीं बतावै ॥६६॥
फोजां को सुण विघ्न, "गीतिका" "विघ्न हरण' की गावै।
ज्वाला जाग्यां मुणिन्द मोरा, गावै जय भल भावै ॥६७॥
सूत्र-बंध हुयां, भिक्षु म्हारै, प्रगट्या भरत खेतर में।
भिक्षु के प्रति दृढ़ श्रद्धा, को परिचय ओ स्फुट्तर में ॥६८॥
म्हारै सरिसा जीतमल्ल यदि, दो सो होज्या भेला।
भिक्षु कै डावै पग नख, कै तदपि न साथ तुलै ला ॥६९॥
जय फरमावै अनोपचंदजी, वो मत राख्या ध्यान।
पत्र पांच शत लिखणा लेकर, मालव कियौ प्रयाण ॥७०॥

थांरी नीति को जयस्वामी, के लागै अन्दाजो।
युवपद हित भी नाम बताता, छोग, हरख, मघराजो ॥७१॥
वीसै तेबीसी में मघ ने, युव पदवी बगसाई।
लम्बी-चौड़ी ढ़ाल ढ़ाल, संचालन विधि समझाई ॥७२॥
थांरी देव ! भक्त वत्सलता, म्हैं कितरीक सरावां।
सिरदारांजी देणो देबण, भंड़ारी रो जावां ॥७३॥
वीर प्रसूता श्री कल्लुजी, बीर वृत्ति हृद धारी।
अन्त समय की है संलेखण, अति रोमोद्‌गमकारी ॥७४॥
भक्ति अनूप स्वरूप शशी की, जय सह पय जलवारी।
उपाध्याय सम बड़ बन्धव नै, सहाय दिरायो भारी ॥७५॥
गुरु गुरु रहै शिष्य-शिष्य ही, नाक भाल नहीं जावै।
भिक्षुकृत जाणी गोशालों, नहीं व्याख्यान बणावै ॥७६॥
गादी महोत्सव, चरम महोत्सव, माघ महोत्सव चाल्या।
ग्यारह चवदै इकवीसै थे, अनुक्रम सूं संभाल्या ॥७७॥
आगे जैतारण लारै जैतारण, बिच में चालां आपां।
इण पहली रो अर्थ बताबै, तिण नैं पंडित थापां ॥७८॥
मघवा मुनिवर अर्थ बतायो, तिण स्यूँ पंडित बाज्या।
"प्रत्यक्षेपि क्रियापंद" में, पंडित चक्कर खाज्या ॥७९॥
(जो) जिकै क्षेत्र में रहै बठै की, स्थिति सूं प्रकृति मिलावै।
वास्तव में ही काम करणियों, वो ही शांति पावै ॥८०॥
भर परिषद् में दियो ओलंमो, क्यूँ गप्पोड़ा मारो।
सहनशीलता देख-देख कर, दंग संघ है सारो ॥८१॥

धोका-धोक लगातां कै, मगरां में धूल नखाई।
मघवा मुनिवर अर्ज करै, म्है समझ्यो आँधी आई ॥८२॥
ओही सुण्योड़ो ओही सुण्योड़ो, तव कहै जय ठरकै स्यूँ।
सकृत उत्तराध्ययन ही सुणल्यो, मघजी के मूँडे स्यूँ ॥८३॥
जीतमलजी हुआ सपूता, मघजी सा शिष्य थारै।
काम-काज स्यूँ होय नचिंता, ध्यान निष्ठता धारै ॥८४॥
लाड़नूँ जन कहै खवर नहीं, किण रस्ते आवां साम्है।
जय फरमावै आठ आना की, अक्ल भी नहीं थांमै ॥८५॥
उदयराम मर भूत हुओ है, लोकां तूद उठायो।
भागै भूत मार कै आगै, (ओ) तुरन्त समझ में आयो ॥८६॥
भूरां कहै विधवा न होणद्यो, तो दीक्षा नहीं लेवूँ।
महनतानो नहीं हर्ष में पावस, भन्डारी जी लेवूँ ॥८७॥
क्षमा शूर अरिहत हुवै पिण, गुरु के कमती माया।
पड़्यो रंग जद चन्देरी जन, माफी मांगण आया ॥८८॥
पचरंग्या की प्रथा जोधपुर, जय वरतार चलाई।
वायां की पंचरंग्या पनरै, साथै वर्ष सताई ॥८९॥
नहीं दीना का हो धींगा का, सुण मघ नै भिजवावै।
भक्तां हित भगवान् सदा ही, पांव उभाणै धावै ॥९०॥
गुरु की स्तवना सन्मुख करणी, शिष्य परोक्ष प्रचारै।
पिण "सरदार सुयश" तो, सन्मुख "हेम नवरसो" लारै ॥९१॥
मैं परठणा नहीं धारूँ, इम कहकर मुंह मचकोड्यो।
ध्यान पार जय दे ओलंभो, अशन-पान झट तोड्यो ॥९२॥

करणी ईशरजी हद थांरी, चोकी नहीं दे जाणै।
कर्या काम वकशीश, भेद तो जाणण वाला जाणै ॥६३॥

लालो कै नहीं माणक म्हारो, बोझ उठावण जोगो।
भाखै जीत चालतो सकसी, मघजी को ले ओघो ॥६४॥

धर्म धिंगाणै नहीं होवे, यूं मानव सभी सुणावै।
ल्या शकुनारो ढौंग दूलजी, प्रभु पावस करवावै ॥६५॥

प्रण को मोह हुवै मोटां कै, प्राण मोह नहीं ल्यावै।
छतां आंख में शस्त्र उठणो, जद छांटां आज्यावै ॥६६॥

गंडकड़ा नै देख झगड़ता, संता नै चेतावै।
शिक्षा देवण शिक्षक नर, हर माध्यम नै अपनावै ॥६७॥

घर में दीप जलाणै, पर मन्दिर की वारी आवै।
देकर खुद नैं शिक्षा जयगणि, सन्तां नै चेतावै ॥६८॥

पेट्या मिलता जय सुखपाल, उठावणियानै सुख स्यूं।
लाड़नूं स्यूं जय जयपुर पहुंच्या, सुण्यो वड़ां कै मुख स्यूं ॥६६॥

जसु तीखो उपयोग हुवै, मुख मुखपत्ति जो न लगावै।
म्हारै किंचित ताण नहीं है, झगड़ो मूल मिटावै ॥१००॥

लाख छियासी सड़सठ सहस, च्यारसो ऊपर जाणौ।
आगम की स्वाध्याय आठ, वर्षां में सर्व पिछाणौ ॥१०१॥

अड़तीसै भाद्रव बदि बारस, कर अनशन गणराजा।
महाप्रयाण कियो जय स्वामी, जय नगरी गुण जाझा ॥१०२॥

मंड़ी खंड़ इकावन, ठा वै अजमेरी दरवाजै।
दाह-क्रिया सिरदार बगीचै, श्रद्धालु जग साझै १०३॥
नर वंका मरूधर का, तीन आचारज भैक्षव गण में।
भिक्षु-जय, तुलसी की महिमा, गूंज रही रही जन-जन मैं ॥१०४॥
दो हजार चवदै चन्देरी, दूज फुलरिया आई।
"सन्त छत्र" तन-मन हर्षाई, जय-सौरभ महकाई ॥१०५॥

जयाचार्य की शोभा यात्रा के वर्णन का एक ऐतिहासिक पत्र

जोग लिखी सावई जैपुर से ताराचन्द ढ़ीलीवाल चितोड़ वाला तथा किशोरीदास धूपीया श्री उदयपुर वाला का धर्म स्नेह वंचस्यो। इठै का समाचार श्री पूज्य भगवान रा तेज प्रताप स्यूं भलेरा छै राज का सदा भला चाही जै। उपरंच श्री श्री १००८ श्री मघराजजी महाराज ठाणां सतरा सूं, महसत्यांजी महाराज श्री १०८ श्री गुलाबकुँवरजी महाराज ठाणा ३५ जूमले ठाणा ५२ सूं विराजे छै गाढ़ी सुखसाता छै। दिशावरां का जात्री आवै छै, दर्शण कर महासुख पावै छै। चौथा आरा की रचना श्री जिनराज जों छटा छवि छाय रही छै और अठे श्री पूज्यजी महाराज श्री १००८ श्री जीतमलजी महराज रा शरीर में कारण छो सो भादवा बदी १० सें सागरी संथारो करायो। और बुधवार सुं दो पहर तिविहार संथारो किधो और दिन धड़ी दोय रहतां जावजीव तिविहार संथारो हुयो। सो दिन वढ़तां सकल कारज सिद्ध कर सेज्या संथारो शरीर छोड़ घणां सुख देवलोक में जाय विराजमान हुवा। खेद भदवा वदी २ उपजी, जीं दिन थी विमाण वणावा लागा। और शहर में हजारां मनुष्य दिन प्रति श्री जी का दर्शन करवा लागा। सर्व जात का चर्म-महोत्सव के

वास्ते लवाजमां के तांई पोहकरन के ठाकुरां का कामदार को वा कुचामन का ठाकुर राव बहादुर केसरीसिंहजी का कागद ठाकुर साहब गोविन्दसिंहजी बोरावलजी साहब का नाम का भंडारीजी बहादुरमलजी लिखा कर भेज्या। तिस पर से लवा-जमां का हुकम हुवा। वेठां निकालना और अजमेरी दरवाजे की परवानगी हो गई सो विमान बारा तिवारां को जीं उपर बीच में तो गुमट चोतरफो तोरण। जीं पर सोने रूपे रा वा गंगा जमुनी कलश ५१ कुल तुर्रा पत्ता का गुमट उपर सोने री तुर्रो जीं उपर कलस जी उपर रुपा रो तुर्रो। तिवारां में सिंहासन सोने री जरी। वाहरली तरफ सोने री जरी में मंढ्यो हुवो और छत बंधी हर्‌या पारचा स्यूं गुमट हरी साटण। सुनहरी गोटा लहर्‌यां और लप्पो गोटो चाहे जठे बारा हो तिवारां के छजा के सिंहासन के फिरनी। विमान की बाहिरली तरफ किरण रूपहरी, सनमुख तिवारां के छाजा साचा मोतियां की लड़्यां और छत बंधी सिंहासन पर मोतियां की लड़। चन्द्रवे गंगा जमुनी बादलां की फूंद्यां। सूरज मुखी चादर चांदी की बारया के साइवान के, चान्दी की सूरजमुखी दो और सोने री गोटे का डंडिया लगी हुई। साचा मोत्यां रो तिलक। सोने री जड़ाउ मुख-वस्त्रिका। लवाजमां माहे हाथी दोय। एक पर तो निशान। दूसरो ओदे को जीमें सोने रूपे रा फूल कलदार रूपइया उण होदा में सूं उछाल करता हैंतां। छड़्या दोय घोटा दोय चांदी का, घोड़ा १२ कोतल, नगारा निशाण का घोड़ा, चिराग २०, तिलंगान की पलटण का

पहरा-४, कोटवाली का जवान-१०, दलेत दोय, साठ वार, सात हलकारा-२, पुलिस का जवान-५, बाजा ५ प्रकार नां मुडै आगै नृत्य करता, दोय तरफ चमर करता, जय जय शब्द करता, सिरे वाजार तिरपोलियां के आगे होकर विमान में बैठा हुवा लाखां मिनखा रा ठाट स्यूं, अजमेरी दरवाजे होयकर सरदारमल लूणियां रा बाग में, चंदन अगर तगर केसर कस्तुरी कपूर घृत में काया को संस्कार कियो। रूपइयां हजराइं विमान के सिर लागां और हजारांइ उछाल में लागां सागी जिनराज के देव मनुष्य उछव करै उणी चाल की छवी स्यूँ ओच्छव हुवो। सो स्वमती अन्यमती सब इचरज पाया जिन शासण को उद्योत घणो अधिको दिख्यो। लोक गुण ग्राम करता बोल्या इसो ओच्छव आगे हुवो नहीं। ऐसा जोगीश्वर हजारां कोसां में देख्या नहीं सुण्या नहीं। इसो हंगामों तो हजारा कोसां में देख्यो सुण्यो नहीं। अै तो अमर हैं। हजारां मिनखां रै देखवा वास्ते किधो है जी सा पुरुष जीं काम उठ्या वो कारज सिद्ध कर पंडित मरण आराधक पद पाय देवलोक में जाय विराजमान हुवां और ईं भरत क्षेत्र में सूरज समान था। अवतारी पुरुष श्रुत केवली पूज्य भगवान् जिस्या जिन शासन का पातशाह जिसा हा। हिवै पूज्य भगवान् महाराधिराज श्री १००८ श्री मघराजजी महाराज च्यार तीर्थ कै माथे नाथ था ज्यों का त्यों वण रहया है। अहो च्यार तीर्थ का भाग सो ऐसा चेला गुरां का सकल कारज सिद्ध कीधा और तीर्थ की आशापूर्ण में कल्पवृक्ष चिंतामणी कामधेनु समान। महागुरुणीजी श्री १०८ श्री गुलाबकुंवरी। सुरतरु

समान यो जिन शासन में अधिक-अधिक गुण आगला। सन्तसत्यां में कोटी ऐसा ही शुभ नीति श्रावक-श्राविका इण शासण की कोटी जिह्वा कर गुण वर्णन में पार आवे नहिं। श्रावक ताराचंदजी ढ़ीलीवाले रूपिया ५००) पानां में मांड्या। रु० ५२५) मेल्या। और सिवाय शाल जोड़ा दोय एक सफेद श्री जीनें धारण करायो। दूसरो सुरख नीचे बिछायो। कीमत रुपया अढ़ाइसौ तीनसो। चद्दर रूपहरी आसावरी। जातरी सत्ताइस गावां का हजारां कोशां का आया। ज्यांरी भूरामलजी पटोलिया सिरदारमलजी लूणिया आदि देई श्रावक इन शासन के उद्योत में अंतरंग प्रीत स्यूं महनत करी। मिती भादवा वदी १३ सं० १९३८ शुभम्। भादवा सुदी २ शुक्रवार श्री हजूर साहब साढ़े ग्यारह बजै पाट विराज्या। च्यार तीर्थ का थाट २७ गावां का जातरी हजार-हजार कोशां का हाजर। रुपया पनरैसे आसरै खरचाना दूसाला पागां थान रुपिया प्रदेशां सु दीपां। फेर धर्म सभाथी दीक्षा देण हवेली कै पास ठंठेरा का कुवां जहां श्री महादेवजी का मंदिर जहाँ वट-वृक्ष के उठे दीक्षा उचराइ। हरियाना देश का भाया हरदयालजी हा। पाछा हवेली में पधार्‌या। धर्म देसना दीधि। सागी जिनराज के देव मनुष्य ओच्छव करै वैसी छटा देख स्वमती अन्यमती चकित पाया। श्री जी गोचरी उठ्यां पहिलां हमारे डेरे पधार्‌या। यूँ ही प्रकार स्यूं श्री महासतियांजी पिण पगल्या कीधा। संत सत्यां कै वृन्दस्यूँ। श्री हजूर अमृत सूं वृष्टि करके वारा ही व्रत सागै निपना। जीं रो आनंद अंग में नहिं समायो। कीर्ति श्री मघराजजी की मिति भादवा सुदि २ सं० १९३८ वैद्यराज किशोरदास धूपीया उदयपुर वाला।